प्रवचन-पीयूष

(ब्रह्मीभूत जगद्‌गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर
श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज का प्रवचन)

संग्रहकर्ता तथा प्रकाशक
श्रीसन्तशरण-वेदान्ती

धर्मसंघ, प्रचार-विभाग
वाराणसी

सहायतार्थ ३)

प्रवचन-पीयूष

(ब्रह्मीभूत अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज का प्रवचन)

संग्रहकर्ता तथा प्रकाशक
श्रीसन्तशरण-वेदान्ती

प्रकाशक :
अ० भा० धर्मसंघ प्रकाशन विभाग
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

श्री वेदान्तीजी

मुद्रक :
श्री वीरभद्र मिश्र
सन्मार्ग प्रेस,
टाउनहाल, वाराणसी
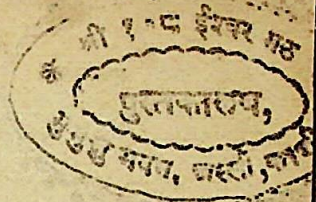
प्राक्कथन

अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज नें गत वर्ष वृन्दावन धाम में चातुर्मास्य करते हुए भावुक भक्तों को नित्य जिस प्रवचन-पीयूष का पान कराकर आप्यायित किया, उन्हींके कुछ बिन्दुओं को संगृहीतकर यह प्रवचन-पीयूष-घट सर्वसाधारण के लिए सुलभ किया जा रहा है। महाराज कृष्णबोधाश्रमजी स्वभावत गंगाजल है, फिर ज्योतिष्पीठ

के आचार्यपद पर आशीन होने से पीठ के गौरव की श्रीवृद्धि होती है। आप जैसे अन्तर्वाह्य सरल हैं, वैसे ही आपकी वाणी भी गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को सरल से सरल शब्दों में श्रोताओं के समक्ष खोलकर रख देती है। इसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं, स्वयं प्रवचन-पीयूष ही इसका साक्षी है। हमें आशा और पूर्ण विश्वास है कि भावुक पाठक इसका पानकर चिरतृप्ति प्राप्त करेंगे।
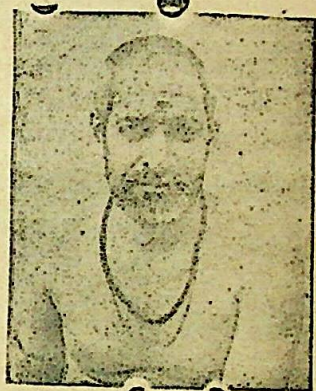
—करपात्री स्वामी।

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

प्रवचन-पीयूष

:: १ ::

मानव का कर्तव्य

आप लोगों का यह परम सौभाग्य है जो आज आप भगवान् के परमप्रिय एवं मङ्गलमय इस वृन्दावन धाम में विद्यमान हैं। ऐसे पुनीत स्थल में एकत्र होकर आप लोगों को कोई ऐसा परम पवित्र विचार उपस्थित करना चाहिये जिससे जन्म-जन्मान्तरों के अनन्तानन्त पुण्यपुञ्जों से प्राप्त यह मानव देह सफल हो जाय। इसके लिए आप लोग को भगवान् के उस परम पवित्र उपदेश का स्मरण करना चाहिये जिसे उन्होंने अपने अन्तरङ्ग भक्त अर्जुन से कहा है—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।' अर्थात् हे अर्जुन! अनित्य और असुख इस शरीर को प्राप्तकर मेरा भजन करो। यहां भगवान् ने शरीर को अनित्य बताया है। जो नित्य अर्थात् सदा न रहे, उसे अनित्य कहा जाता है। ठीक शरीर ऐसा ही है, क्या ठिकाना—अभी है और क्षणभर के बाद रहेगा कि नहीं? इसीलिए वेद ने इसे सदा 'मृत्युग्रस्त' कहा है—'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना।' इससे भगवान् ने यह सूचित किया कि 'काल

करे सो आज कर, आज करे सो अब।' इस न्याय से बिना किसी विलम्ब के आज और अभी से परुषार्थसिद्ध अर्थात् भगवद्भजन के लिए बुद्धिमान् को प्रवृत्त हो जाना चाहिये। शरीर असुख है अर्थात् आध्यात्मिक आदि करोड़ों उपद्रवों से युक्त होने के कारण दुःखस्वरूप है। इससे यह सूचित किया गया है कि जब शरीर स्वस्थ है तभी मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिये, पीछे आधि-व्याधिग्रस्त होने पर क्या हो सकता है। भगवान् ने शरीर को 'लोक' कहा है। इसका तात्पर्य है कि 'जो देखा जाता है अथवा जो आत्मस्वरूप का प्रकाश करता है वह लोक है। अर्थात् मुक्ति के साधन इस मानवदेह को प्राप्तकर, उसे वस्तुतः क्षणभङ्गुर और दुर्लभ समझकर तीव्र मोक्षेच्छा और वैराग्य से मुक्ति-पद मुझ सोपाधिक या निरुपाधिक परमात्मा का भजन करो। श्रद्धा-भक्ति से मेरा अनुसन्धान करो। यदि तुम्हें निर्विशेष विषयक ज्ञान का उपदेश प्राप्त है तो मुझ निर्विशेष का ही अभेदबुद्धि से भजन करो, अन्यथा सोपाधिक का ही भजन करो। किसी तरह भजन अवश्य करो।

यदि सुख की भी इच्छा हो तो वास्तविक सुख बिना भगवान् के भजन के प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तविक सुख किसे कहते हैं? उसका प्रारम्भ कहांसे होता है? इन बातों का पता लगाने की आज तो किसी-को चिन्ता नहीं है, सब लोगों को रोटी और वस्त्र की चिन्ता व्याकुल किये है। वास्तव में सुख क्या वस्तु है, इसके जानने की इच्छा भी किसीको नहीं होती। आजका मानव संसार में ही सुख खोजने के लिए अथक परिश्रम कर रहा है, पर उसे इस परम सत्य का पता नहीं कि संसार से सुख

का लेशमात्र भी नहीं है। यहाँ सुख का अत्यन्ताभाव है, अर्थात् यहाँ न कभी सुख था, न है और न रहेगा। जहाँ मृत्यु और जन्म की परम्परा चलती है वहाँ सुख की गन्ध कहाँ? विवेकी कहता है—'मैंने संसार में आकर हजारों माता पिता और सैकड़ों पुत्र एवं स्त्रियों का अनुभव किया और जबतक मोक्ष नहीं होता तबतक कर रहा हूँ तथा करता रहूंगा' तेली के कोल्हू के बैल की भाँति यह जीवन सदा आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ अनन्त क्लेश-परम्पराओं का शिकार होता रहता है; उससे छुटकारा पाने का उपाय एक ही है जिसे भगवान बताते हैं—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥' भगवान् ने कहा है—अर्जुन! यदि निर्विशेष ज्ञान का अधिकारी अपने को नहीं समझता तो तू मेरे सोपाधिक स्वरूप का ही भजन कर। उसका प्रकार यह है कि 'भूतानि विष्णुः' अर्थात् समस्त भूत मुझ विष्णु का ही स्वरूप है अतः सर्वात्मक मुझमें लग गया है मन जिसका वह मन्मना है; तुम भी ऐसे 'मन्मना' हो जाओ। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को 'वासुदेवः सर्वम्' इस सिद्धान्त से मेरा ही रूप समझो। अथवा 'मनो मोक्षे निवेशयेत्' इस स्मृतिवचन के आधार पर आनन्द एवं मोक्ष-स्वरूप मुझमें स्थापित कर दिया गया है, मन जिसका, अर्थात् मोक्षरूप केवल एक ही पुरुषार्थ में आसक्त चित्तवाले हो जाओ। इस प्रकार धर्म-फल जो अर्थ-काम हैं उनमें मन न लगाओ। इसके लिए 'मद्याजी' होने की आवश्यकता है, यानी श्रौत-स्मार्त कर्मों के द्वारा मुझ परमेश्वर का ही भजन करने के स्वभाववाले बनो। कर्म करते समय अग्नि आदि देवताओं

में भेदबुद्धि न कर उन देवताओं को मुझ स्वरूप समझना चाहिये इस आशय से कहा—'मद्भक्तः अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इस न्याय से हव्य, यजन, यजमान और याग इन सबको मुझ स्वरूप ही समझकर भजन करनेवाले मेरे भक्त हो जाओ। 'मां नमस्कुरु' 'वासुदेवः सर्वम्' सब मुझ वासुदेव स्वरूप ही है, इस बुद्धि से मुझे प्रणाम करो। अथवा माता, पिता, गुरु और देवता को मेरा ही स्वरूप समझकर प्रणाम करो। 'मत्परायणः' मैं ही हूं, परम गति जिसकी, यह समझकर सभी अवस्था में और सदा परमेश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं, इस प्रकार मेरी शरण आओ। अथवा मेरी प्रसन्नता के लिए ही समस्त लौकिक, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करो। इस तरह युक्ति अर्थात् कर्मयोग से मेरी उपासना करके अन्त में आत्मा अर्थात् परमात्मरूप मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो जाओगे।

इस प्रकार भगवान् के आज्ञानुसार भगवद्भजन ही मानव का परम कर्त्तव्य है। इसके विपरीत जो लोग विषयभोगों में आसक्त हैं; पुत्र, कलत्र, आदि को छोड़ना नहीं चाहते तथा धनी होकर भी प्राणियों के कल्याण के लिए धन नहीं देते और दरिद्र होकर भी तप नहीं करते उनके लिए शास्त्र कहते है कि इन दोनों को गले में भारी से भारी पत्थर का टुकड़ा बाँधकर पानी में डुबा देना चाहिए—'द्वावेतौ विनिवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्। धनिनश्चाप्रदातारं दरिद्रश्चातपस्विनम्॥' आचार्यों का कहना है कि 'शीघ्र से शीघ्र जीव के कल्याण का उपाय होना चाहिये। दैहिक, दैविक एवं भौतिक इन तीन प्रचण्ड ज्वालाओं के कारण जीव की अत्यन्त शोचनीय दशा हो रही है। फिर भी हम

विषयों से विरत नहीं होते। हमारी तो ठीक वैसी ही दशा हो रही है, जैसी सर्प के मुख में पड़े हुए मेढक की। सर्प के मुख में पड़ा हुआ मेढ़क अपनी अविलम्ब समाप्त होनेवाली जीवनलीला की ओर ध्यान न देकर पास आये हुए मच्छरों को लीलने का प्रयत्न कर रहा है। उसी प्रकार हम स्वयं महाकाल के गाल में पड़े हुए हैं, किन्तु हमारी सांसारिक दृष्टि नहीं हटती। इससे बढ़कर अज्ञान की पराकाष्ठा क्या होगी ?

सच्ची बात तो यह है कि जिस शरीर के लिए हम घोर से घोर अन्याय करने पर तुले हैं वह शरीर भी हमारा नहीं है। एकबार महाराज जनक ने दरबार में कहा कि 'क्या इस समय कोई ऐसा महात्मा है, जो चुटकी बजाते ही भगवान् का दर्शन करा दे।' उनकी आज्ञा के अनुसार ऐसे ब्रह्मनिष्ठ महात्मा की खोज होने लगी। अन्त में महर्षि अष्टावक्र ने आकर कहा –'महाराज, दर्शन तो करा दूँ किन्तु इसका मूल्य आपको चुकाना होगा।' महाराज ने कहा कि 'इसके बदले मैं सम्पूर्ण राज्य देने को प्रस्तुत हूँ।' महर्षि ने हँसकर कहा—'राजन्! यह क्या कह रहे हो, राज्य तुम्हारा कैसे हो गया ? जिस शरीर से सम्बन्ध जोड़कर राज्य को अपना कहते हो वह शरीर तुम्हारा नहीं है। यह शरीर किसका है, इस विषय में बहुत विवाद है, क्योंकि इसपर बहुतों ने अधिकार कर रखा है। अतः यह किसका माना जाय, यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। जैसे इस शरीर को माता पिता का, विवाहिता स्त्री का, अथवा जिसकी सेवा करके पैसे कमाता है उस स्वामी का, या अन्त में जला दिये जाने के कारण अग्नि का, किंवा जङ्गल में फेंक दिये जाने के कारण गीध और कुत्तों का, अथवा इष्ट मित्रों

का या अपना ही किसका माना जाय ? अर्थात् यह किसीका भी नहीं, सबके दावे झूठे हैं। अतः देहाभिमान कदापि नहीं करना चाहिये— 'पित्रोः किंस्विन्नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥' अतः देह का अभिमान न कर परमात्मा के भजन द्वारा आत्मकल्याण सम्पादन करना चाहिये।

'महर्षि दत्तात्रय ने इस शरीर को भी एक गुरु माना है वे कहते हैं— जैसे अन्यों से शिक्षा लेने के कारण मैंने उन्हें गुरु माना वैसे ही अपनी देह को भी गुरु मानता हूं। गुरु से वैराग्य और विवेक की शिक्षा मिलती है, देह से भी इनकी शिक्षा मिलती है। यह देह सत्व अर्थात् जन्म और निधन अर्थात् मृत्यु धारण किये रहती तथा सदा दुःख भोगते रहना हीं इसका फल है। अथवा जन्म और मृत्यु ही जिसका सदा दुःखरूपी फल है, ऐसी यह देह वैराग्यकारण होने से मेरा गुरु है। किञ्च आत्मा, अनात्मरूप तत्त्वों का विवेचन भी इसीके होने से कर रहा हूँ; अतः विवेक-प्रदान में यह मेरा गुरु है। तथापि इसे अपना नहीं मानता। यह पारक्य अर्थात् अन्त में श्व शृंगालादि भक्ष्य है। इसीलिए मैं भी असङ्ग होकर विचरण कर रहा हूं।'

अन्त में जनकजी ने अष्टावक्र से प्रार्थना की कि 'आप जो आज्ञा करें वही वस्तु मैं इसके बदले में दूँ।' अष्टावक्र ने कहा कि 'यदि ऐसा ही तो आप मुझे अपना मन दे दीजिये।' जनकजी ने स्वीकारकर अपना मन उनको प्रदान कर दिया। वे उनका मन लेकर चल दिये और सालभर तक नहीं लौटे। फलतः जनकजी सालभर तक समाधि में बैठे रहे और

उनको सब कुछ प्राप्त हो गया। अभिप्राय यह है कि 'सम्पूर्ण अनर्थों का मूल मन ही है। यदि आप लोग उसे ठीक कर लें तो विवेक-वैराग्य होने में विलम्ब नहीं। और यह होगा कब ? जब यह भगवान् के चरणकमलों में लग जायगा। भगवान् मनु ने कहा है—'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' अर्थात् स्थावर जङ्गमात्मक सर्वभूतो में मैं ही आत्मरूपसे स्थित हूँ तथा सभी भूत मुझ परमात्मा में ही स्थित हैं', इस प्रकार जाननेवाला आत्मयाजी यानी ब्रह्मार्पणबुद्धि से ज्योतिष्टोमादि यागो को सम्पन्न करनेवाला स्वराज्य अर्थात् स्वयं प्रकाशित होनेवाला स्वराट्—ब्रह्म, उसके भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता हैं। इसलिए मानव को राग-द्वेष के वश में न होना चाहिये। शास्त्र ने जिसको जो आज्ञा दी है उसके लिए वही धर्म है, उसका ठीक-ठीक पालन करते हुए सन्ध्यावन्दनादि नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा भगवान् को प्रसन्न करना चाहिये। भगवान् ने कहा है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परमधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्में निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः॥' विधिवत् अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा विगुण अर्थात् दोषयुक्त या विधिपूर्वक सम्पन्न न हुआ भी स्वधर्म ही कल्याणकारक है, स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए मृत्यु भी कल्याणप्रद है, परन्तु परधर्म भयप्रद है।

अतः सबको स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिये। यदि कोई आग्रह करके बैठ जाय और कहे कि 'मैं स्वधर्म का अनुष्ठान कौन करे, किसी भी कर्म को नहीं करूँगा' तो इससे कोई भी लाभ नहीं हो सकता, कारण कर्मों का स्वरूप से त्याग करना वास्तविक त्याग नहीं, क्योंकि वह बन ही

नहीं सकता। इसीलिए भगवान् ने कहा है—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥' नित्य-निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा से निर्मूलन कर दिया है सम्पूर्ण वासनाओं की ग्रन्थि को जिसने, ऐसे ब्रह्मज्ञानी भी प्राणरक्षा के कारणभूत अवशिष्ट अपनी पूर्ववासन के अनुसार ही आहारादि की चेष्टा करते हैं। शरीर की स्थिति में कारणभूत वासना के दुर्निवार होने के कारण वे उसका निग्रह नहीं कर सकते। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठा से प्रकृति का भी अतिक्रमण करनेवाले जितेन्द्रिय ब्रह्मवित् को भी जब वासना का अनुवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है तब अशिष्ट, प्रकृत्यधीन मूढ़ प्राणियों के विषय में तो कहना ही क्या, इस आशय से कहा है—'प्रकृतिम्' इत्यादि। सुख-दुःख के अनुभव के लिए अपने-अपने कर्म से उत्पन्न प्राणी अपनी-अपनी जाति के अनुस र अनेक क्रियाओं की उत्पत्ति में हेतुभूत रागद्वेषवाली वासनास्वरूप प्रकृति को प्राप्त होते और स्व-स्वप्रकृति के अनुसार रागद्वेषवश नानाविध चेष्टा भी करते है, वे प्रकृति के अधीन होने के कारण क्षणभर भी चुप नहीं रह सकते। अतः हम कुछ भी कर्म न करेंगे, ऐसा अल्पकालिक इन्द्रियों का निरोध सर्वथा अकिंचित्कर है। इसलिए मुमुक्षु हो चाहें अमुमुक्षु. कर्म सबको करना ही पड़ेगा।

मुमुक्षु को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि श्रोत्रादि सभी इन्द्रियों को अपने-अपने शब्दादि विषयों में रागद्वेष नियमतः रहता है। मुमुक्षु को उसके अधीन नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय कि 'इन्द्रियों का विषयों में राग अथवा द्वेष रहे, इससे अपनी क्या हानि?'

तो ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण वे ही रागद्वेष इस मुमुक्षु के मोक्षमार्ग में मार्गस्थित चोरों की तरह परिपन्थी अर्थात् प्रतिवन्धक होते हैं, वे मोक्षसाधन का आश्रय करनेवाले वेचारे मुमुक्षु को अपने वश में कर विषय-रूपी महा-अरण्य में ले जाकर उसीमें उसे सदा भ्रमण कराया करते हैं। फिर उसे विषयारण्य से निकलना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। यही बात भगवान् ने कही है—'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥' इस प्रकार भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए उन्हीके पदपद्मों में मन मिलिन्द को लगाकर ऐसा नियमित जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'—बार बार जनमना, बार बार मरना और बार बार माताके गर्भ में शयन करना इन महाक्लेशों से सदा के लिए छुटकारा मिले। इसीलिए भक्त लोग सदा कहा करते हैं—'भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते!' मानव-जीवन का यही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है।

--:o:--

:: २ ::

जीवन का लक्ष्य और उसकी प्राप्ति

सबसे प्रथम मानव को अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करना चाहिये। जबतक यह निश्चित नहीं होगा तब तक उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होगी। जिसने अपने गन्तव्य स्थान का निश्चय नहीं किया, वह सतत चलकर कहां पहुँचेगा ?यह वह भी नहीं कह सकता। अतः यह सर्वप्रथम निर्णय करना होगा कि 'अनन्त काल से प्रारम्भ हमारी इस जीवनयात्रा का गन्तव्य स्थान क्या है ? साथ ही वह ऐसा होना चाहिये जहाँ पहुँचकर मुझे अनन्त विश्राम प्राप्त हो तथा फिर कभी चलने का प्रयास न करना पड़े।' ऐसा स्थान खोजने पर तो भगवान् के शब्दों में भगवान् ही ही हैं, दूसरा कोई नहीं। भगवान् कहते हैं कि 'मुझे सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्तकर प्राणी परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। तब वह अनित्य और दुःखरूप जन्म को फिर नहीं प्राप्त करेगा। अर्थात् ऐसी अवस्था में अनन्त काल से प्रारम्भ की गयी उसकी जन्म-मरण-रूप यात्रा समाप्त हो गयी--'मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥' इसी प्रकार श्री-मद्भागवत का भी कहना है कि यही बुद्धिमानों की बुद्धि है तथा यही मनीषियों की सदसद्विवेकिनी मनीषा है कि इस अनृत एवं मरणशील शरीर से सत्य और अमृत मुझे प्राप्त कर ले--'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा

च मनीषिणाम् । यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम् ।।' अतः शास्त्रों एवं सत्पुरुषों के आचरण से यही सिद्ध होता है कि मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है।

अब उन्हीं शास्त्रों से उसकी प्राप्ति का उपाय भी जानना चाहिये। भगवान् की प्राप्ति में देहात्मवाद सबसे बड़ा बाधक है। अर्थात् देह ही को आत्मा मान लेना और उसीके सुख-दुःख में अपने को सुखी-दुःखी मानना। इसलिए शास्त्र देह से ममता हटाने के लिए कहते हैं कि जीवन के सत्य लक्ष्य की प्राप्ति करनेवालों के लिए उचित है कि वे शरीर में जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःख एवं दोषों का दर्शन करें—'जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'—जिससे उसकी देहात्मवाद की बुद्धि का निरास हो। देहात्मवाद का निरास होने पर जब वह शरीरावस्था में आ जायेगा तो उसे प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख का भान नहीं होगा—'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' इसके लिए सर्वप्रथम चित्त को जीतना पड़ेगा। चित्त के वश में न होनेवालों की बड़ी महत्ता बतायी गयी है।

एतावति धरणीतले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः । पुरुष-कथासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन ।।' इस धरणीतल पर वे पुरुष सौभाग्यशाली तथा सचेतस्क है और उन्हीं सत्पुरुषों की कथाओं में गणना होती है जो अपने चित्त से न जीते गये हों अर्थात् जिनका चित्त वश में है। वस्तुतः बिना चित्त को वश में किये ऐहलौकिक, पारलौकिक कोई भी कार्य सम्यक् सम्पन्न नहीं हो सकता।

शास्त्र तो वानर और नर में यही भेद बताते हैं। मन जहाँ जाय वहाँ जाने-वाले अर्थात् मन के पराधीन रहनेवाले 'वानर' और मन को वश में करके बुद्धि के द्वारा विचारकर चलनेवाले नर हैं—'मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः। बुद्धयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः॥"

संसार-चक्र का प्रवर्तक एकमात्र चित्त ही है, इसीपर माया का प्रभाव पड़ता है। 'चित्तं नाभि किलास्येदं मायाचक्रस्य सर्वतः। स्थीयते चेत्तादाक्रम्य तन्न किंचित् प्रबाधते॥' इस मायाचक्र की नाभिः (मध्यप्रदेश) चित्त है, उसे दबाकर रहनेवालों पर अर्थात् उसको वश में रखनेवालों पर मायाचक्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानव को सब प्रकार से चित्त पर अधिकार प्राप्त करना चाहिये। अदृष्ट से दृष्ट का निर्माण होता है। अन्ततः पुण्य-पाप अदृष्ट ही हैं, उन्हीं से दृष्ट शरीर बनता है। प्राणियों के अदृष्ट से ही क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर ये पांचों मिलकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे स्वर्णकार बने हुए कटक-कुण्डलों को तोड़कर स्वर्ण को अन्य आभूषणों के रूप में परिणत कर देता है वैसे ही मानव के पुण्य-पाप कर्मों के वश स्थूल शरीर अन्य-अन्य शरीरों के रूप में परिणत होते रहते हैं स्थूल शरीर में कर्तृत्व भोक्तृत्वाभिनिवेश होने से हुए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिए भगवान् ने कहा है—'अनेकचित्तविभ्रान्ता मोह-जालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥' अनेक प्रकार के चित्तविकारों से विभ्रान्त, मोहरूपी जाल से समावृत, विषयों के भोग में अत्यन्त आशक्त, आसुर स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरक में

पड़ते हैं। अतः शास्त्रों के द्वारा शुभकर्मों को जानकर और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान छोड़कर भगवदर्पणबुद्ध्या कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण भगवत्वप्राप्ति में सहायक होता है।

हिरण्यगर्भ-लोकपर्यन्त सभी लोकों से मानव को मृत्युलोक में लौट आना पड़ता है, केवल भगवान् को ही प्राप्त कर लेने पर जनन-मरणलक्षणा संसृति मिटती है—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥' अतः जीवन के चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति को चाहनेवालों को हिरण्यगर्भलोक तक की इच्छा का परिहार करना चाहिए। इन उत्तमोत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए कर्मो का अनुष्ठान न कर भगवत्प्रसन्नता के लिए ही कर्मो का अनुष्ठान करना चाहिये। देहाभिमान रहने पर अनुष्ठित कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। व्यास जी ने धृतराष्ट्र के अन्धे होने एवं उनके सौ पुत्रों के नष्ट होने के कर्मविपाक को बताया है कि धृतराष्ट्र, आप पूर्वजन्म में मानसहंस के सौ बच्चों को खा गये थे। उसीसे संकुपित होकर उसने आपको शाप दे दिया कि जाओ तुम दूसरे जन्म में अन्धे होगे तथा तुम्हारे सौ पुत्र मारे जायँगे।' अतः शास्त्रविधि के अनुसार कर्मो को भगवदर्पणबुद्धि से करने से तथा सर्वप्रकार से भगवान् की शरण जानेसे भगवान् की कृपा और उसीसे मानव अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥' भारत, संसार-समुद्र को पार करने के

लिए प्राणियों के एकमात्र आश्रय ईश्वर की मनसा, वाचा, कर्मणा शरण जाओ। उसी ईश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मज्ञानरूप पराशान्ति को प्राप्त करोगे।

जो मानव अपने जीवन के चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति को चाहते हैं उनके लिए गूढतम उपाय बताये गये हैं, जिन्हें स्वयं भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन सभी गोपनियों में गोपनीय तथा परम उत्कृष्ट बात मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ! यह मैं सबसे नहीं कहता, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिए तुमसे यह परम हितकारी वचन कहता हूँ–'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥' वह क्या परम गोपनीय तथा हितकर वचन है ? इसपर कहते है–'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माँ नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ मुझ वासुदेव में ही मन लगा रहता है जिसका उसको 'मन्मना' कहते हैं, अर्थात् मुझे ही सोचो। यहां कहा जा सकता है कि द्वेष से तो कंस, शिशुपाल भी भगवान् को ही सोचते थे, वैसे ही क्या साधक भी करे ? इसपर कहते हैं, नहीं–'मद्भक्तः'–प्रेम से मुझमें अनुराग होना चाहिये, द्वेष से नहीं। अर्थात् अनुराग से सदा मुझमें मन लगाओ। यदि साधक कहे कि आपमें अनुराग ही कैसे होगा ? इसपर कहते हैं ? 'मद्याजी' मेरे पूजन का ही स्वभाव हो गया जिसका ऐसे होओ, अर्थात् सदा मेरी पूजा में रहो। यदि पूजा की सामग्री न हो तो 'मां नमस्कुरु' अर्थात् मन, वाणी और शरीर से अत्यन्त विनम्र होकर मुझे प्रणाम ही किया करो। इस प्रकार सदा भागवत धर्म का अनु-

ध्यान करने से मुझमें अनुराग उत्पन्न होगा, फिर साधक मन्मना होगा, फिर मन्मना होकर मुझ वासुदेव को प्राप्त हो जायगा, इसमें कोई सन्देह करने की बात नहीं। मैं यह तुमसे प्रतिज्ञा कर रहा हूँ। अर्जुन तुम मेरे प्रिय हो, इससे मैं तुमसे झूठ नहीं कह सकता। भगवान् के इस अत्यन्त गुह्य एवं परम हितकारी वचन के अनुसार चलनेवाले साधक को अवश्य अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

--:o:--

:: ३ ::

स्वधर्मानुष्ठान का माहात्म्य

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का आदेश है कि मानव को ऐहलौकिक तथा पारलौकिकादि सर्वविध सिद्धियाँ स्ववर्ण एवं स्वाश्रमविहित कर्मानुष्ठान से प्राप्त होती है—'स्वे स्वे 'कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' शास्त्रों ने प्राणिमात्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया है। भगवान् ने भी चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इस वचन के अनुसार अपने आपको ही चारों वर्णों का रचयिता बताया है। आजकल कुछ लोगों ने भगवान् के इसी वचन के आधार पर कर्म से वर्णव्यवस्था के निर्माण का देश में एक बहुत बड़ा बवण्डर खड़ा कर रखा है। किन्तु थोड़ी-सी अन्तर्मुखता से विचार करने पर उनका यह बवण्डर सदा के लिए विलीन हो जाता है। क्योंकि भगवान् ने इस वचन से पहले के वचन में कहा है कि 'हे पार्थ! सभी मनुष्य हमारे ही निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं—'मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।' उसीको स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने इस वचन को कहा है। अतः 'गुणकर्मविभागशः' गुण और कर्म के विभाग से, सत्व आदि गुणों और शम-दम आदि कर्मों के विभाग से—अर्थात् जिसमें रजोगुण अप्रधान और सत्व प्रधान है उसे ब्राह्मण तथा

उसका शम, दम आदि कर्म; जिसमें सत्त्वगुण अप्रधान और रजोगुण प्रधान है, उसे क्षत्रिय और उसका शौर्य, तेज तथा धैर्य आदि कर्म; जिसमें तम अप्रधान और रज प्रधान है उसे वैश्य तथा उसका कृषि, गोरक्ष्य आदि कर्म एवं जिसमें रज अप्रधान और तम प्रधान है उसे शूद्र और उसका सेवा आदि कर्म, इस प्रकार गुण-कर्मविभाग से चारो वर्ण एवं चारो आश्रमों का निर्माण मैंने सृष्टि की आदि में ही किया, ऐसा भगवान् का कथन है। उसीका अनुसरण आज भी मानवमात्र जिस किसी रूप में करता है। इससे यह कहाँ से निकला कि आज भी लोग गुण और कर्म के अनुसार जाति और आश्रम निर्माण करें। अस्तु, कल्याणकामी सभी मनुष्यों को अपने वर्ण एवं आश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान फलप्रद है। यदि स्वधर्मानुष्ठान सम्यक् सम्पन्न नहीं हो रहा है और परमधर्म का सम्पादन अनायास और अच्छी प्रकार हो रहा है, तब भी भगवान की आज्ञा है विगुण भी अपने कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।' शास्त्र का तो यहाँ तक कहना है कि 'स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए मर जाना भी कल्याणकारक है, किन्तु परधर्म का आश्रयण सदा भयप्रद है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

आजकल बहुत से लोग गृहस्थाश्रम के विकराल टंटे से छूटने एवं शान्ति प्राप्त करने के लिए संन्यास का आश्रय लेते हैं, किन्तु उनके लिए शास्त्र स्पष्ट शब्दों में हितोपदेश करते हैं कि हे धर्मज्ञ! यथाविधि एवं यथाशास्त्र तुम अपने गार्हस्थ्य-धर्म का ही अनुष्ठान करो। तुम्हारे लिए गार्हस्थ्य छोड़कर अरण्य-गमन शास्त्रानुकूल नहीं है—'स्वधर्मं चर धर्मज्ञ! यथाशास्त्रं यथा-

विधि। नहि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते।' पहले लोग अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म का बड़ा ध्यान रखते थे, इसीलिए सुखी रहते थे। एकबार धृतराष्ट्र को प्रजागर हुआ। उन्होंने विदुर को बुलाकर उनसे ब्रह्मज्ञान के विषय में पूछा। विदुर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि 'राजनीति के विषय में मैं आपको कुछ कह सकता हूँ, किन्तु ब्रह्मज्ञान के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि मैं शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ हूँ, शूद्र को ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकार नहीं है—'शूद्रयोनावहं जातस्तस्मान्नोपदिशामि ते।' यहाँ किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं यहाँ तो अधिकारानुसार ही कर्मों की व्यवस्था है। महाभारत में एक जगह आया है—'दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्।' हे युधिष्ठिर! दण्डोपलक्षित प्रजापालन ही क्षत्रियों का धर्म है, मुण्डन कराकर संन्यासी, बाबाजी बनना नहीं। संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण का ही स्वधर्म है, इसीलिए लिखा है—'संन्यासेन देहत्यागं करोति यः स ब्राह्मणः।' स्वधर्मानुष्ठान करने वाले ही ये आकाश में नक्षत्रों के रूप से चमक रहे हैं—'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि।' आज भी शूकर, कूकर आदि अधम योनियों में जिन जीवों को आप लोग देख रहे है, वे सब मानवयोनि में उत्पन्न होकर जो स्वधर्मपालन न किये एवं अधर्म किये उसीका फल भोग रहे हैं। सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि होना भी मानव-जीवन में किये हुए स्वधर्माचरण का ही महत्त्व है। स्वधर्मानुष्ठान करने वाला प्रभु की ओर जाता है, अतः स्वधर्मानुष्ठान से प्रभु को प्रसन्न करना मानव मात्र का परम कर्त्तव्य है।

स्वधर्मानुष्ठान का महात्म्य

कुछ लोगों का कहना है कि 'गोपिकाएं' गृहस्थाश्रम में ही थीं, जिनके लिए अपने पति का अनुगमन करना परम धर्म है। फिर वंशी की मधुर ध्वनि सुन वे भागकर श्रीकृष्ण के पास क्यों गयीं तथा उनके वैसा करने पर भी शास्त्रों में उनकी इतनी बड़ाई क्यों की गयी!' इसका उत्तर है, साक्षात्परब्रह्म परमेश्वर ही श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे और वे ही सभी प्राणियों के हृदय-देश में निवास करते हुए झूले पर झूलने वालों की तरह अपनी माया से प्राणियों को घुमाया करते हैं। अतः भगवान् की माया से मोहित हो तथा उनके द्वारा आकृष्ट होकर वे उनके पास गयी। और गयी भी कहाँ? परब्रह्म परमात्मा के पास जो जीवमात्र का गम्य है। भगवान् की भी तो आज्ञा है--'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥' हे भारत, सब प्रकार से उस परमात्मा की शरण जाओ। उसके अनुग्रह से नित्य, परब्रह्म को अवश्य प्राप्त कर लोगे। अतः वे महाभागा गोपियाँ भगवान् की आज्ञा मानकर उन्हीं की शरण गयी तो क्या अनुचित किया? जन्मजन्मान्तरों के पुण्यपुंजों से जिनके अन्तःकरण की शुद्धि हो गयी और जो भगवान् के सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठा से परेशान हैं, उनके लिए भगवान् ने भी यही आज्ञा दी है--'सर्वधर्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' इसमें भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन से कहा है कि अर्जुन, तू सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी ही शरण में आ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर। ऐसी स्थिति में महाभागा

गोपिकाओं ने भगवान् की आज्ञा का ही पालन किया जो सबसे उत्कृष्ट धर्म है। यदि आज भी कोई सम्पूर्ण प्रवृत्तिलक्षण धर्मों का परित्याग कर वास्तविक भगवान् की शरण जाता है तो वह सर्वथा प्रशंसनीय ही है।

आप लोगों को भी चाहिए कि बीती भुलाकर अबसे भगवान् के मङ्गलमय चरणों को पकड़ें, क्योंकि शास्त्र का कहना है—'गतन्न शोचामि कृतं न मन्ये खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे। द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज ! भवामि मूर्खः॥' कालिदास कहते हैं कि एक बार राजा भोज की पत्नी अपनी किसी सहेली से बात कर रही थी, उस समय राजा उसके पास गये और बिना रानी को जनाये खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने लगे। सहेली ने उन्हें देखकर बातें करना बन्द कर दिया। रानी ने कारण जानने के लिए ऊपर देखा तो राजा सामने खड़े मिले। रानी ने उन्हें सम्बुद्ध करते हुए कहा—'आइये मूर्खराजजी !' इसपर राजा को बड़ा आश्चर्य तथा खेद हुआ कि यह हमारा अभूतपूर्व पराभव है। किसी प्रकार वे वहाँ से पिण्ड छुड़ाकर सभा में पहुँचे। वहाँ जाकर सभा के सभी सदस्यों को उन्होंने 'मूर्ख' शब्द से सम्बुद्ध करना प्रारम्भ किया। यह सुनकर कालीदास ने उक्त श्लोक पढ़ा। उसका अर्थ यह है कि 'मैं बीते हुए के लिए शोक नहीं करता। किसी सुकृत को करके अभिमान नहीं करता, भोजन करते हुए मार्ग में नहीं चलता, हँस-हँसकर बाते नहीं करता और बात करने वाले किन्हीं दो जनों के बीच तीसरा नहीं होता; फिर हे राजन् भोज ! बातायें, मैं किस कारण मूर्ख हूँ ?' कहने का अर्थ है कि

बीती हुई बात का शोक करना मूर्खता है। अतः आप लोग अभीसे सावधान होकर स्वधर्म का अनुष्ठान करें, कल्याण होना निश्चित है। क्योंकि भगवान् की आज्ञा है कि अपने-अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की पूजा कर मानव सर्वविध सिद्धि को प्राप्त करता है--'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'

--:o:--

॥ ४ ॥

धर्म की सूक्ष्मता

धर्म अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्म है, इसके निर्णय में बड़े-बड़े मनीषी लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। स्वयं भगवान् भी कहते हैं—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' इसलिए धर्म का निर्णय भली प्रकार करना चाहिए। साथ ही सबके लिए स्वधर्म का निर्णय अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अन्तसमय में सबकी यह भावना होती है कि मैंने 'क्या पुण्य नहीं किया और क्या पाप किया—'किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्।' शास्त्रों मे मानव-जीवन का मननीय विषय धर्म और ब्रह्म इन दोनों को ही माना है। इसीलिए जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसा का पहला सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा महर्षि व्यास ने उत्तर-मीमांसा का प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' रखा है।

मानवीय पुरुषार्थ भी धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये ही चार बताये गये हैं। इनमें भी धर्म ही मुख्य एवं सबका मूल पुरुषार्थ है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रथम श्लोक की मिताक्षरा' में विचार किया गया है कि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' स्मृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन किया गया है, फिर इसकी धर्मशास्त्र में ही गणना क्यों की गयी है?' इसका उत्तर करते हुए उन्होंने लिखा है कि सभी पुरुषार्थों में धर्म की प्रधानता

है, क्योंकि धर्म के विना अल्प से अल्प भी अर्थ मिल नहीं सकता, किन्तु अर्थ के विना भी धर्म तीर्थयात्रा, नामजप आदि द्वारा सिद्ध होता है। अतएव इसे 'धर्मशास्त्र' कहा गया है।' कहने का मतलब है कि धर्म सबसे प्रधान है, अतः उसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक हैं। संक्षेप में धर्म का लक्षण यही है कि 'शास्त्रानुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार की चेष्टाओं को धर्म कहते हैं।' अतः उसके अनुसार आचरण करने पर अन्त में पछताना नहीं पड़ता, क्योंकि धार्मिकों के लिए मृत्यु कोई विशेष महत्त्व की नहीं। वे तो भगवान् के शब्दों में उसे एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आना मात्र मानते है। भगवान् ने कहा है—'देहनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥' जैसे मनुष्य के शरीर में बालकपन, जवानी और बुढ़ापा आता और चला जाता है वैसे ही जीवात्मा भोगानुसार एक देह को छोड़ कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है, यही मृत्यु कहलाती है। विद्वान् को इसमें कोई मोह नहीं होता। धर्मात्मा पुरुष को मरते समय भी धर्मरक्षा की ही चिन्ता रहती है। महाराणा प्रताप अपना अन्तिम समय धर्म की रक्षा के लिए ही छप्पर में विताते थे। एकबार उनका लड़का छप्पर में घुस रहा था कि उसकी पगड़ी कुछ बाहर निकले हुए छप्पर के एक बाँस में फँस गयी। उसने उस बाँस को निकाल फेंका। यह देख महाराणा को बड़ा क्लेश हुआ और उन्होंने कहा कि 'जो थौड़ा सिर नीचा न कर छप्पर को ही तोड़ सकता है वह धर्म की रक्षा कैसे कर सकता है? धर्मरक्षा में तो घोर से घोर क्लेश उठाना पड़ता है?' यह सुनकर उनके साथी सामन्तों ने

उनके पुत्र को बुलाकर धर्मरक्षा की शपथ दिलायी तब उन्होंने सुखपूर्वक प्राण छोड़ा।

जिसने धर्मतत्त्व को जान लिया वह किसी भी दशा में धर्म को नहीं छोड़ता। वलि का दानधर्म प्रसिद्ध है। गुरु शुक्राचार्य के लाख मना करने पर भी उसने नहीं माना। अपने धर्म द्वारा, छलने के लिए आये विष्णु को भी उसने छल लिया और भगवान को उसके समक्ष अपनी हार माननी पड़ी। उसकी इस धर्मपरायणता में भी कारण है। वह पहले जन्म में एक वेश्या-बाज तथा जुआड़ी मनुष्य था। सदा जुआ खेलता और जुआ में जीते हुए धन से अपनी प्रियतमा वेश्या के लिए अच्छा भोजन तथा इत्र-फुलेल आदि खरीदकर ले जाना ही उसकी प्रतिदिन की दिनचर्या थी। एक दिन उसे विलम्ब हो गया। प्रतिदिन का समय निकल गया। वह अपनी प्रियतमा के लिए सभी वस्तुएँ लेकर चला और सोचता जा रहा था कि 'आज तो हमारी प्रियतमा अभी विना खाये ही वैठी होगी।' चित्त उधर होने के कारण मार्ग में पड़े प्रस्तर-खण्ड से धक्का खाकर वह गिर पड़ा और उसके हाथ की सभी वस्तुएँ विखर गयी जिससे उसको बड़ा क्लेश हुआ। उसने सोचा कि ये सब चीजें अव प्रियतमा के पास नहीं पहुँच सकेगी और अव व्यर्थ हो रही हैं, अतः भगवान् को ही समर्पण कर देना चाहिए। और उनसे उन नष्टप्राय वस्तुओं को शिवार्पण कर दिया। प्रारब्धवश वह तत्काल मर गया। मरने पर यमराज के पास पहुँचा। यमराज ने उससे पूछा कि तुम्हारा सब पाप ही पाप है, केवल एक पुण्य है। वोलो, पहले पाप का फल भोगोगे या पुण्य का ? वह जुआड़ी बड़ा चतुर था, उसने कहा-'क्या पुण्य है और उसका

क्या फल है ?' यमराज ने कहा–'वेश्या के लिए ली गयी वस्तुओं के नष्ट होते समय तुमने जो उन्हें शिवार्पण किया वही एक पुण्य है, उसका फल है कि तीन घड़ी के लिए तुम्हें स्वर्ग में इन्द्र पद मिलेगा ।' उसने सोचा-पाप के फल भोगते-भोगते कितना समय निकल जायगा, फिर पता नहीं स्वर्ग मिलेगा कि नहीं, अतः पहले इन्द्रपद का ही सुख ले लेना चाहिए। उसने यमराज से प्रार्थना की कि मुझे प्रथम पुण्य का ही फल प्रदान किया जाय। फलतः तीन घड़ी के लिए वह इन्द्र हुआ। इन्द्र के लिए प्राप्त होने वाले दिव्य भोगों में वह प्रवृत्त होना ही चाहता था कि महर्षि नारद पधारे। स्वागत-सत्कार के बाद महर्षि ने कहा कि 'अभिनव इन्द्र ! एक बार अत्यन्त तुच्छातितुच्छ वस्तु शिवार्पण करने से तो यह दिव्य फल प्राप्त हुआ है। द्यूतशिरोमणि ! भगवान् का नाम लेकर एक बार फिर जुआ खेलो। परस्त्री को माता, पर-धन को लोष्ठ के बराबर समझकर इन्द्रलोक का ऐरावत, कामधेनु आदि समस्त दिव्य वस्तुओं को शिवार्पण कर दो।' उसने ऐसा ही किया। तीन घड़ी के बाद घण्टी बजी और वह नरक लाया गया। यमराज ने पूछा—यह तुमने क्या किया ? स्वर्ग की वस्तुएँ तुम्हें भोग करने के लिए प्राप्त थी, न कि दान के लिए। बलि ने कहा—'धर्मराज ! वे सब मुझे प्राप्त थी। मैं उतनी देर के लिए उनका स्वामी था. फिर अपनी अपनी सूझ है। मैं चाहूँ भोग करूँ या उनका दान। मुझे दान ही अच्छा प्रतीत हुआ, अतः मैंने दान किया।' उस महापुण्य से उन्हें शिव का कैलाश–लोक दिया गया। कालान्तर में वही महादानी बलि हुआ और उसी जन्म की उसकी दान की दृढ़ भावना थी।

अभिप्राय है कि धर्म बड़ी चीज है। महात्मा तुलसीदास ने विनय-पत्रिका में कहा है—

'तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजवनितनि भै मुद-मङ्गलकारी ।।'

अर्थात् धर्म में बाधक पिता, भाई, गुरु तथा पति भी हो तो उसे सहर्ष छोड़ देना चाहिए। उनके त्याग से प्राणी का कल्याण ही होता है। अतः अपने-अपने धर्म को समझकर सभी लोगों को अपना सर्वस्व त्याग-कर भी धर्मानुष्ठान करना चाहिए। धर्म में बाधकों के परित्याग में पाप नहीं लगता, प्रत्युत भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतः धर्म की सूक्षमता समझ-कर आप लोग उसका आचरण करें।

॥ ५ ॥

आस्तिकता

मानवमात्र के सार्वविध कल्याण के लिए आस्तिक होना अत्यन्त आवश्यक है। 'इहलोक से अतिरिक्त परलोक भी है, जहाँ हमें इहलोक में समनुष्ठित सुकृत-दुष्कृत का फल भोगना पड़ता है' इस प्रकार की भावना रखनेवाले को आस्तिक कहा जाता है, और आस्तिक में जो धर्म है उसे ही 'आस्तिकता' कहते हैं। अन्य देशवासियों की अपेक्षा भारतीयों में यह विशेषता होती थी कि वह परम आस्तिक होता था। इस लोक में नीच से नीच कर्म करने में उसे किसी प्रकार के दृष्ट प्रतिवन्ध न रहने पर भी परलोक के भय से ही वह उससे वचता था, और इस लोक तथा परलोक में सब प्रकार सुखी और सम्पन्न रहता था।

आज कहने को सभ्यता का युग कहा जाता है, किन्तु सब प्रकार से सभ्यता के समूलोन्मूलक नास्तिकवाद को प्रोत्साहन दिया जाता है और वह दिन दूना रात चौगुना होकर बढ़ता जा रहा है। आज आपके देश की सभ्य कहे जानेवाली जनता ईश्वर तक का अस्तित्व मानने में आनाकानी कर रही है, जिसका अर्थ होता है अपने तक को नहीं मानना। थोड़ी अन्तर्मुखता से विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि हममें जो चैतन्य है वह कहाँ से आया? क्या वह शरीर का धर्म है? यदि शरीर का धर्म है तो फिर शरीर के रहते तो उसे अवश्य रहना चाहिये, किन्तु यह

आपामर प्रसिद्ध है कि ऐसा नहीं होता। ऐसी स्थिति में शरीरातिरिक्त चेतन को अवश्य मानना चाहिये। उसीको आस्तिक परमात्मा कहते हैं।

जहाँ नास्तिक अपने अज्ञानवश अपनी सत्ता को भी खतरे में डाल रखता है वहीं आस्तिक अपनी सुरक्षा के साथ साथ सम्पूर्ण विश्व के समस्त प्राणियों के मंगल की कामना करता वेद के शब्दों में कहता है —'भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥' हे देवताओं! हम लोग सदा कानों से मङ्गल का श्रवण करें। आंखों से मङ्गल देखें। अपने दृढ़ अङ्गो से आपकी स्तुति करनेवाले हों और देवताओं की दी हुई आयु को प्राप्त करें। साथ ही आस्तिक प्रतिदिन परमात्मा से प्रर्थना करता है कि 'भगवन् मैं आपका निराकरण (खण्डन) न करूं तथा आप मेरा खण्डन न करें--'माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोतु।' आज जैसे-जैसे हम भगवान् का खण्डनकर नास्तिकता को बढ़ावा दे रहे हैं वैसे ही वैसे भगवान् भी हमारा निराकरण करते जा रहे हैं जिससे हमारी मानवता ही खतरे में पड़ गयी है और हम कहने मात्र को मानव रह गये हैं। विद्वानों की दृष्टि में आज जैसी हमारी दुर्दशा इसके पहले कभी नहीं हुई थी। ऐसा लगता है कि मानो अब मानवता सदा के लिए विदा हो गयी या हो जायगी। ऐसे समय यदि आप लोग अपना कल्याण चाहते हैं तो आपके लिए अनिवार्य है कि आप आस्तिक बनें और विश्वासपूर्वक भगवन्नाम-स्मरण की ऐसी अपूर्व गङ्गा बहायें जिसकी पवित्र लहरें आपको तो

भगवान् तक पहुँचा ही दें, सम्पूर्ण जगत् को भी पूर्ण आस्तिक बना दें । प्रभु परम कृपालु हैं, वे हमारे सहस्त्रों अपराधों की ओर ध्यान न देकर एक बार उनसे मिलने के लिए हुए चित्त के भाव का समादर करते हैं । आवश्यकता है, आस्तिकता की तथा प्रभु के मङ्गलमय पादारविन्दो में दृढ़ विश्वास को ।

कहते है, एक वार मर्हिष नारदा भगवान् नारायण से मिलने क्षीरसागर जा रहे थे कि बीच में एक महात्मा मिले । उन्होंने महर्षि नारद को सप्रेम प्रणामकर पूछा––'महर्षे ! भगवान् से मेरे विषय में भी यह पूछने का कष्ट करें कि क्या वे मुझे भी कभी दर्शन देने की असीम अनुकम्पा करेंगे । नारद ने कहा––'अच्छा भाई ! पूछूँगा' कहकर वे आगे वढ़े तो एक और मस्तराम बावा मिले जो एक वृक्ष के नीचे धूनी रमाकर बैठे थे । नारद से अपने विषय में भगवान् से मिलने के लिए पूछने की प्रार्थना उन्होंने भी की । लौटने पर महर्षि नारद ने प्रथम महात्मा से कहा कि 'भगवान् आपसे तीन जन्म के बाद मिलेंगे ।' यह सुन वे महात्मा निराश हो गये और भजन करना त्यागकर इधर-उधर भटकने लगे । द्वितीय महात्मा को जब नारद जी ने कहा कि 'भगवान् आपसे मिलना चाहते हैं, किन्तु इस वृक्ष पर जितते पत्ते हैं उतने जन्मों के वाद ।' यह सुनकर वे महात्मा यह कहकर कि 'भगवान् मुझे जानते हैं और मुझसे मिलेंगे', आत्मविभोर हो गये और भगवान् की कृपालुता का ध्यान कर नाचने लगे । भक्त की इस आस्तिकता और इस प्रकार के दृढ़ विश्वास के भाव को देख-कर भगवान् उसी क्षण प्रकट हो गये ।

अतः आप लोगों को भगवान् में दृढ़ विश्वास तथा पूर्ण आस्तिकता का भाव रखकर नास्तिकता के गन्दे वातावरण को मिटाने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। नास्तिकता की गन्दगी ही सम्पूर्ण अनर्थों की जननी है। अतः इस समय अत्यन्त सावधान होकर चलना चाहिए। भूलकर भी शास्त्रीय राजमार्ग का परित्याग नहीं करना चाहिये। अन्यथा कल्याण की कोई आशा नहीं और विनाश ध्रुव है। वहिर्मुखता को दूर से नमस्कार कर अन्तर्मुखता को अपनाना होगा। इसमें अन्धानुकरण से काम नहीं चलेगा, क्योंकि शास्त्रों ने महात्माओं का मार्ग भिन्न तथा संसारियों का भिन्न बताया है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥' सर्वसाधारण प्राणियों के लिए जो निशा है अर्थात् जिसमें साधारण प्राणियों की दृष्टि नहीं पहुँचती उस निशारूप आत्मनिष्ठा में संयमी विद्वान् जागता है. रमण करता है। और द्रष्टा, दर्शन आदि भेदों से युक्त जिस अविद्या में प्राणि 'अहं'. 'मम' इत्यादि व्यवहार करता है, सबमें ब्रह्मवाद देखने वाले ब्रह्मज्ञानी के लिए वह निशा है अर्थात् जैसे प्राणी रात में व्यवहार नहीं करते वैसे अविद्यारूप रात्रि में ब्रह्मनिष्ठ 'अहं', 'मम' व्यवहार नहीं करता। इसलिए मनुष्यों को शास्त्र में पूर्ण निष्ठा रखकर अपने-अपने अधिकारानुसार स्वमार्ग का निर्णयकर पूर्ण आस्तिकता से स्वकर्मानुष्ठान करना चाहिए। भगवान् मनु ने नास्तिक की बड़ी कटु निन्दा की है। उनका कहना है कि जो हेतु शास्त्र का आश्रय लेकर आर्थात् शास्त्र-विपरीत तर्क के द्वारा श्रुति और स्मृति का अपमान (खण्डन) करता है वह

नास्तिक एवं वेदनिन्दक है, स्वकल्याणकामी शास्त्रविश्वासी लोग उसे यज्ञादि सभी कर्मों से बहिष्कार कर दें—'योऽवमन्येत ते मूले हेतु-शास्त्राश्रयाद् द्विजः। स सद्भिश्च बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥' अतः पूर्ण आस्तिक्य भाव रखकर ही मानव स्वकल्याण कर सकता है। इसलिए सभी जिज्ञासुओं को सर्वप्रथम पूर्ण आस्तिक होना चाहिये।

—:०:—

॥ ६ ॥

भगवत्प्राप्ति अत्यन्त सुगम

जो लोग शास्त्रों तथा गुरु एवं आप्तजनों के वचनों में श्रद्धापूर्वक पूर्ण विश्वास करते हैं उनको भगवान् की प्राप्ति बड़ी सुगम है । भगवती गीता देवी कहती हैं कि वह भगवत्तत्त्व उत्पत्तिशील, अतएव कल्पित समस्त भूतों में भीतर और बाहर व्याप्त है। वह चर भी हैं और अचर भी। इस प्रकार वह सर्वस्वरूप होने पर भी रूपादि-हीन होने के कारण अनायास स्पष्ट ज्ञान के योग्य नहीं हैं। वह दूर भी है अर्थात् जो लोग आत्मज्ञान के साधन से शून्य हैं उनके लिए हजार, करोड़ वर्ष में भी लक्षकोटि-योजन-व्यवहित की तरह अत्यन्त दूर है। ज्ञानसाधनसम्पन्नों के लिए आत्मस्वरूप होने के कारण अत्यन्त पास है, मानों जैसे उसे सदा प्राप्त ही हो—'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥' अतः ब्रह्मतत्त्व अत्यन्त पास होने के कारण अत्यन्त सुगम है।

शास्त्रों में एक शबरोपाख्यान आता है। कहते हैं कि एक राजा के यहाँ अभुक्त-मूल में राजपुत्र का जन्म हुआ। ज्योतिषियों की सम्मति के अनुसार वह जङ्गल में छोड़ दिया गया। चतुर मन्त्री छिपे रूप में उसकी देख-भाल करता रहा। वहांसे उसे एक शबर उठा ले गया। संतानहीन

होने से शबर ने उसका भली-भांति भरण-पोषण किया । संयोगवश थोड़े ही दिनों में राजा का स्वर्गवास हो गया । कोई राज्य करने योग्य उत्तराधिकारी नहीं था । मन्त्रियों ने विचार किया कि राज्य का सम्यक् संचालन वही कर सकता है जो राजवीर्य से उत्पन्न हुआ हो । इस निश्चय के अनुसार मन्त्री स्वयं कुछ सैनिकों के साथ एक दिव्य रथ लेकर शबर के गृह में रहनेवाले राजपुत्र को लेने गया । सेना के साथ राजमन्त्री को आया सुन वह अपनेको शबर-पुत्र माननेवाला राजपुत्र घर के भीतर जाकर छिप गया । बड़े प्रयत्न के बाद जब निकला तो हाथ जोड़कर मन्त्री से प्रार्थना करने लगा कि 'महाराज ! मैंने कौन ऐसा अपराध किया जिससे मुझे आप गिरफ्तार करना चाहते हैं ?' मन्त्री ने उत्तर दिया—'आपका कोई अपराध नहीं है, किन्तु आप भूले हैं जो अपनेको शबर-पुत्र समझते हैं । आप राजपुत्र हैं और आपको राजा बनाने के लिए मैं लेने आया हूँ, आप राजा हैं । हम लोग आपके प्रेष्य हैं । फिर आप हमसे डरते क्यों हैं ? हम लोगों को आज्ञा कीजिये ।' फिर क्या था, वह अपनेको राजपुत्र समझ गया और जिनसे डरता था उन्हींपर शासन करने लगा ।

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा वस्तुतः है भगवद्रूप, किन्तु अनादि अविद्या के कारण अपनेको मरणधर्मा आधि-व्याधि शोक-मोहयुक्त समझकर अनन्त काल से दुःखजाल का अनुभव कर रहा है । जहाँ साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हुआ और गुरु ने 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश किया कि वह समस्त सांसारिक दुःखबन्धनों से छूटकर भगवद्रूप हो जायगा । इसी भाव का एक श्लोक भगवान् शंकराचार्य का है—

दाता भोगपरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां,
राजा सस्त्वमसीति रक्षितमुखाच्छ्रुत्वा यथावत् स तु।
राजीभूय जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान्बोधितः,
श्रुत्वा तत्त्वमसीत्यपास्तदुरितं ब्रह्मैव संपद्यते ॥'

अतः प्रथम साधनचतुष्टयसम्पन्न होने का प्रयत्न करना चाहिये। उसमें भी वैराग्य की बड़ी आवश्यकता है!

आजकल वैराग्य का वास्तविक अर्थ भी लोग नहीं समझते। योग-सूत्रकार ने वैराग्य का लक्षण किया है—'विषयसन्निधावपि संप्रख्यान-बलादनाभोगात्मिका बुद्धिर्वशीकारसंज्ञावैराग्यम् ॥' रूप रसादि भोगविषयों के प्राप्त होने पर भी विवेक की प्रबलतावश उन विषयों के भोग की इच्छा से रहित बुद्धि ही वशीकार संज्ञक वैराग्य है। परमार्थ के पथिक को इस वैराग्य की बहुत आवश्यकता है। यह निश्चय है कि जबतक मानस में तनिक भी विषय की वासना है तब तक सभी साधन अकिंचित्कर हैं। श्री शुकदेवजी ने रम्भा से कहा था कि 'यह मानव-जीवन स्त्री-सम्भोगरूप विषय-सेवन के लिए नहीं है। वह तो सभी योनियों में प्राप्त होता है। मानवयोनि तो मोक्ष का द्वार है। यह है वैराग्य! मोक्ष के लिए बलवान होना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। यह आत्मा बलहीनों को नहीं प्राप्त होती। योगसूत्रकार ने मोक्ष चाहनेवाले के लिए आत्मविद्या ही बल बताया है—'आत्मविद्यया अशेषविषयदृष्टितिरस्करणं बलम्।' आत्मविद्या के द्वारा समस्त विषय-विषयक दृष्टि का तिरस्कार करना ही बल है। अतः मोक्षमार्गी के लिए विषय-दृष्टि का सर्वथा परित्यागकर इस नाम-

ञ्चात्मक दृश्य प्रपंच को आत्मदृष्टि के द्वारा आच्छादित देना नितरां आव-
श्यक है।

जिनके हृदय में सांसारिक विषयवासना का लेश भी विद्यमान है
था आत्मविद्या के द्वारा जिन्होंने समस्त प्रपंच को आत्ममय देखने का
भ्यास नहीं किया उनका हृदय दुर्बल है। वे इस मार्ग में आने का भी
ाहस नहीं कर सकते। इस मार्ग में आने का काम तो बड़े शूर-वीरों का है
ही भगवान् ने अर्जुन से कहा था--'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्व-
युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।' हे अर्जुन! तू
लीवभाव को मत प्राप्त हो, तुझे यह बात शोभा नहीं देती। हे परन्तप!
स तुच्छ हृदय की दुर्बलता को छोड़ कर खड़ा हो जा। इसके अनुसार
माद, आलस्य और आराम आदि जो हृदय की दुर्बलताएं हैं उनको
ोड़ना पड़ेगा और अपने-अपने वर्णाश्रमकर्मों के अनुष्ठानरूपी तप को
ढ़ाना होगा। क्योंकि बलवान् को ही बलवान् की प्राप्ति होती है। शास्त्रों
 भगवान् को ही सर्वोत्तम बलवान् बताया है—'एवं नैवास्ति संसारे
न्च सर्वोत्तामं बलम्। विहायैकं जगन्नाथं परमात्मानमद्वयम्।'
सार में अद्वय तत्त्व भगवान् जगन्नाथ को छोड़ अन्य कोई सर्वोत्तम बल नहीं
। उस बल को प्राप्त करने के लिए बलवान् होना ही पड़ेगा। इसमें
माद नहीं करना होगा। प्रमादी से भगवान् बहुत दूर रहते हैं। भगवान्
 क्यों, प्रमादी कभी भी अपनी अभिलषित सांसारिक वस्तु भी प्राप्त नहीं
र सकता।

विष्णुपुराण में एक कथा आती है। कण्डु ऋषि इन्द्रपद चाहते थे।

दुष्कर से दुष्कर भी कार्य तप के द्वारा सिद्ध होता है। महाभारतकार ने लिखा है—'ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद्धनम् । उग्रं तपः समातिष्ठेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ।।' बड़े से बड़े प्रयत्न को करता हुआ भी यदि मानव धनादि अभिलषित वस्तुओं को नहीं प्राप्त कर पाता तो उसे चाहिये कि घोर से घोर तप करे, क्योंकि विना वोये वीज जमता नहीं, अर्थात् विना तप के कुछ प्राप्त नहीं होता। अतः महर्षि कण्डु ने इन्द्रपद की प्राप्ति के लिए घोर तप करना प्रारम्भ किया। उनके उग्र तप को देखकर इन्द्र भी भयभीत हो गये कि सचमुच यह हमारा पद न छीन ले। यह सोच-कर उन्होंने महर्षि के तप को नष्ट करने के लिए एक अप्सरा भेज दी। फिर क्या था, उसके दिव्य-सौन्दर्य को देखकर वे उसमें आसक्त हो गये और ऐसे आसक्त हुए कि नौ वर्ष का समय उनको एक दिन के भी समान नहीं प्रतीत हुआ। यह है विषय की करामात! बाद को जव ऋषि को ध्यान हुआ कि यह मैं क्या कर रहा हूँ क्या यही इन्द्रपदप्राप्ति के लिए तप है! इस अप्सरा ने तो हमारा सर्वनाश कर दिया। फिर तो वेश्या काँप गयी कि कहीं ये मुझे शाप न दे दें।

इससे हमलोगों को शिक्षा लेनी चाहिए कि अब्भक्ष, वायुभक्ष और महासंयमी एक महर्षि भी जब विषयसन्निधान में इतने प्रमादी हो जाते हैं तो हम लोग, जो प्रायः सभी साधनों से शून्य है, उनकी क्या दशा होगी। अतः प्रमाद छोड़कर सर्वदा सावधान रहना चाहिये। यह सबको विदित है कि साधक को जितना डर बाहर के शत्रुओं से नहीं उससे कई गुना भीतर के शत्रुओं का होता है। शास्त्र कहते हैं—'अहङ्कार

बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥' अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के अधीन प्राणी अपने तथा दूसरों में वर्तमान मेरे (भगवान् के) साथ विद्वेष करते हैं। तथा मोक्षोपयोगी गुणों से भी द्वेष करते हैं। अतः साधक को कभी भी इनके अधीन नहीं होना चाहिये। काम और राग से विवर्जित प्राणी में जो बल है वह भगवान का ही बल है—'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।' भक्त भगवान् से भक्ति चाहता है। मुक्ति नहीं, किन्तु भक्ति के मिलने के बाद मुक्ति हठात् लेनी पड़ती है, केवल भक्त होने की आवश्यकता है। साधक के भक्त होते ही भक्ति महारानी की असीम कृपा से भक्त की जहां देहात्मभावना दूर हुई कि मुक्ति महारानी चरणों में लोटने लगीं क्योंकि अन्त में आत्मा ही तो परमात्मा हैं। वह अपने सब से अन्तरंग है, अतः अन्तरंग की प्राप्ति अत्यन्त सुगम ही है।

---:o:---

॥ ७ ॥

कर्तव्याकर्तव्य की कसौटी शास्त्र

आजकल बुद्धिवाद का युग है। सभी लोग अपनी बुद्धि को कर्तव्य
कर्तव्य का निर्णायक मानते हैं, किन्तु बुद्धि स्वतन्त्र नहीं है। जैसे लोगों
सहवास होगा, जैसा ग्रन्थ पढ़ा जायगा उसीकी वासना से वासित बु
होगी। प्राचीन विचारवाले आस्तिक भारतीयों की बुद्धि में यह
निश्चय रूप से बैठी हुई है किसी भी स्थिति में गोहत्या किसी भी रा
व्यक्ति तथा समाज के लिए किसी भी दशा में हितावह नहीं है। कि
जो ऐसी भावना से भावित नहीं है वे गोहत्याबन्दी से ही संसार
सर्वनाश मान रहे हैं और किसी भी मूल्य पर गोहत्या बन्द करने
लिए प्रस्तुत नहीं है। अब कहिये, 'इन दोनों में किस बुद्धि को प्रम
माना जाय?' बुद्धि तो दोनों ही हैं। यहीं और भी बहुत-सी विपत्ति
हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'। प्रत्ये
मनुष्य की बुद्धि भिन्न-भिन्न है। ऐसी स्थिति में यदि कोई स्वामी अ
भृत्य को किसी कार्य से पूर्वदिशा में भेज रहा है। भृत्य की बुद्धि में आ
कि यह कार्य तो पश्चिम दिशा में होगा। अब बुद्धिवादी बतायें
वहाँ किस बुद्धि की प्रबलता मानी जाय? इसलिए यह स्पष्ट कहा जा स

है बुद्धि को स्वतः प्रामाण्य नहीं हैं। बुद्धि सदा प्रामाणान्तरसापेक्ष होकर प्रमाण होती है।

कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में स्वतन्त्र प्रामाण्य शास्त्र का है। बुद्धि उनके ठीक-ठीक समझने में सहायक है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण को कहना पड़ा—'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम्।।' जो शास्त्रविधि का परित्यागकर स्वबुद्धि से कर्तव्याकर्तव्य का निर्णयकर उसीके अनुसार आचरण करता है वह न इस लोक में अनुष्ठित कार्य की सिद्धि प्राप्त करता है, न परलोक में स्वर्गादि सुखों को ही प्राप्त करता है। अतः कार्याकार्यविचार में शास्त्र ही प्रमाण हैं। अर्जुन! शास्त्रीय विधान भली-भाँति समझकर किसी भी कर्म का अनुष्ठान करो—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥' आजकल बहुत से लोग बहुत बड़े भक्त बनते हैं, किन्तु उनके आचार-विचार शास्त्रीय आचार-विचार से स्पर्श भी नहीं करते। उनको यह नहीं मालूम कि भगवान् की सबसे उत्कृष्ट सेवा या उत्तम भक्ति यही है कि प्रतिक्षण उनके आज्ञाभूत शास्त्रों का अनुसरण किया जाय। भगवान् कहते हैं—'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते। आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥' श्रुति और स्मृति ये दोनों मेरी आज्ञाएँ हैं, जो इनका त्याग करके बर्ताव करता है वह मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता अतः मेरा द्वेषी है। यदि मेरा भक्त भी ऐसा करता है तो वह भी मेरा द्वेषी है। भक्त तो क्या, वह साधारण वैष्णव भी नहीं है। अतः कर्तव्या-

कर्तव्य की कसौटी शास्त्र को मानकर उसके द्वारा सबको अपने-अपने कर्तव्य का निर्णय करना चाहिये और जहाँतक हो सके, शास्त्रों को खूब पढ़ना-समझना चाहिये।

विशेषकर ब्राह्मण की सृष्टि ही ब्रह्मा ने वेदशास्त्र की रक्षा के लिए की है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि ब्रह्माने सृष्टयादि में तप करके ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। उनके उत्पन्न करने के तीन प्रयोजन उन्होंने बताये। उनमें सर्वप्रथम है वेद की रक्षा, अर्थात् अध्ययनाध्यापन के द्वारा वेद को नष्ट होने से बचाना। दूसरा पितरों और देवों की तृप्ति। अर्थात् पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिए भक्ष्य-भोज्य पहुँचाने के एकमात्र साधन ब्राह्मण हैं। उन्हीं को भक्ष्यभोज्यादि पदार्थों द्वारा तृप्त करने से देवता और पितर तृप्त होते हैं। तीसरा प्रयोजन है धर्मरक्षा। अर्थात् ब्राह्मण अपना सर्वस्व न्योछावर कर धर्म की रक्षा करें—'तपस्तप्त्वाऽसृजद्-ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये। तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च॥' ब्राह्मण ही नहीं, मनु ने तो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए कहा है कि जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र अर्थशास्त्रादि में परिश्रम करता हैं वह जीते-जी ही पुत्र-पौत्रादि के साथ शूद्र हो जाता है—'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्व-माशु गच्छति सान्वयः॥' अतः अधिकारानुसार सभी लोगों को खूब अध्ययन करना चाहिए तथा पुत्र-पौत्रों को भी शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए उत्साहित करना चाहिये। यदि स्वयं अब अध्ययन करने की सामर्थ्य न हो तो समादरपूर्वक विद्वानों से शास्त्रों की बातें सुनना और उनका अनुष्ठान

करना चाहिये। सामान्यतः शास्त्र पढ़ते एवं सुनते रहने पर भी यदि कोई विशेष कार्य आ जाय तो उसका विशेष रूप से ब्राह्मणों से निर्णय कराकर अनुष्ठान करना विशेष फल देनेवाला होता है।

समुचित शास्त्रीय निर्णय हो जाने पर भी शास्त्रीय कर्मों में श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा का अर्थ है आस्तिक्य-बुद्धि। श्रद्धा की महत्ता बताते हुए भगवान् ने कहा है—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥' गुरु एवं वेदान्त-वाक्यों में प्रतिपादित सिद्धान्त को 'यह ठीक ऐसा ही है' इस प्रकार के यथार्थ ज्ञानरूप आस्तिक्यबुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। उससे युक्त पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। यदि कहे कि श्रद्धावान् होने पर भी यदि आलसी हो तो भी ज्ञान हो जायगा क्या? इस पर कहते हैं, नहीं, 'तत्पर' होना चाहिये। अर्थात् गुरु की उपासना आदि जो ज्ञान के उपाय हैं उनमें अत्यन्त आसक्त होना चाहिये। श्रद्धावान् और तत्पर होने पर 'संयते-न्द्रिय' भी होना चाहिये, अर्थात् विषयारण्यों से अपने इन्द्रियों को संयत किये रहना चाहिये। ऐसा करने वाला पुरुष शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त करके पराशान्ति अर्थात् अविद्या-तत्कार्य की निवृत्ति से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः साधक के लिए श्रद्धा अनिवार्य हैं। श्रद्धा रहित लोगों की जो गति होती है वह भी आप लोग भगवान् के ही शब्दों में सुनिये। भगवान् कहते हैं—'अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥' शास्त्र न पढ़ने के कारण आत्मज्ञान से शून्य को अज्ञ कहते हैं। गुरु और वेदान्तवाक्यों के विषय में

'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का जो विपरीत ज्ञान होता है उसको कहते हैं नास्तिक्यबुद्धि अर्थात् अश्रद्धा, उससे युक्त को अश्रद्धधान कहते हैं और जो 'यह ऐसा है कि नहीं' इस प्रकार सब जगह संशयाक्रान्त चित्तवाला है वह हुआ संशयात्मा। इन तीनों के लिए भगवान् ने 'विनश्यति' शब्द का प्रयोग किया है, ये तीनों ही अपने-अपने स्वार्थ भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः शास्त्रीय कर्मानुष्ठान की सफलता के लिए श्रद्धा आवश्यक है, कारण संशयात्मा अर्थात् संशययुक्त के लिए ही भगवान् ने कहा है कि 'नायं लोक' इत्यादि। अर्थात् यतः संशयात्मा सर्वत्र पापबुद्धि ही होता है, अतः धनादि अर्जन न करने के कारण उसे यह लोक—मनुष्यलोक, स्वर्ग-मोक्षादि धर्मज्ञानाभाव के कारण परलोक तथा भोजन आदि में सब जगह संशयाक्रान्त होने के कारण सुख भी प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में कसौटी शास्त्र ही है। और शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान से प्राप्त होने वाले फल की निष्पत्ति में शास्त्रज्ञान, श्रद्धा और संशयराहित्य मूलकारण हैं।

———

॥ ८ ॥

मानवदेह की सार्थकता

मर्त्यलोक में तीन वस्तुएं अत्यन्त दुर्लभ हैं—मानवदेह, मोक्ष की इच्छा और महापुरुषों का समागम। मानव-देह के लिए सन्त तुलसीदास कहते हैं—'कबहुंक करुणा करि नरदेही। देत ईश बिन हेतु सनेही॥' अनन्तकाल से अनेक पापयोनियों में उत्पन्न हो होकर विभिन्न प्रकार की दारुण यातनाओं से खिन्न होते हुए जीव को देखकर अकारण करुण, करुणा-वरुणालय भगवान् अपने अंशभूत जीव पर कृपाकर मानवशरीर प्रदान करते हैं। जिस शरीर के लिए देवता लोग तरसते रहते हैं वह सुरदुर्लभ मानवशरीर एकमात्र प्रभुकृपा से हम लोगों को प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं, वह भी भारतवर्ष में, जिसके लिए देवता लोग कहा करते हैं कि 'अहा ! वे धन्य हैं जो भारतवर्ष में उत्पन्न हुए—'धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।' भारतवर्ष में भी हम लोगों को इस समय श्री वृन्दावन धाम प्राप्त हुआ है, यह प्रभु की और कृपा है। कारण संसार में परम दुर्लभ महापुरुष-समागम यहां अत्यन्त सुलभ हो रहा है जिससे मोक्षविषयिणी इच्छा का होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में जब तीन वस्तुएं सुलभ हो रही हैं इससे यह भावना होती है कि अब प्रभु हमलोगों का अवश्य कल्याण करना चाहते हैं। और भगवान् हमारे

कल्याण करना क्यों न चाहें ? आखिर तो हम उन्हींके अंश हैं, अंशी अपने अंश पर कृपा करता ही है। भगवान् सनातन हैं, हम उनके अंश भी सनातन हैं, क्योंकि भगवान् ने ही कहा है—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।' और हमलोगों का धर्म भी सनातन है। शास्त्र भगवान् के आज्ञाभूत हैं, अतएव वे भी सनातन हैं।

शास्त्रों ने मानवदेह का प्रयोजन तत्त्वजिज्ञासा अर्थात् सारवस्तु के जानने की इच्छा करना बताया है, न कि जन्मजन्मान्तरार्जित कर्मवश प्राप्त होनेवाले फलों की प्राप्ति—'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।' सनातन शास्त्रों ने सनातन जीव का लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति बतलाया है। अतः उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिये। कल्प-कल्पान्तरों तक तेली के बैल की तरह कोल्हू के चारों ओर फिरने की आवश्यकता नहीं। सबको शास्त्रों के आधार पर अपना लक्ष्य निश्चय करना चाहिये। शास्त्रप्रतिपादित सभी देव परब्रह्म ही हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शिव, विष्णु, ब्रह्मा, दुर्गा आदि की उपासना से फल सबको एक ही मिलता है। जैसे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन में विभिन्नता होने पर भी लक्ष्य भूख की निवृत्ति में किसीका भेद नहीं। आइये, हम लोग शास्त्रों से अपना लक्ष्य निश्चय करें—'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥' तत्त्वज्ञ लोग अद्वय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। वही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार लक्ष्य को जान लेने पर भी उसका पाना अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि

सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥' हजारों-लाखों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञानप्राप्ति के लिए यत्न करता है तथा भगवत्प्राप्ति के लिए तत्त्वसाक्षात्कार के लिए निरन्तर श्रवण, मननादि में व्यासक्त उन सिद्धों में भी कोई एक तत्त्वतः अर्थात् नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, आनन्दैकरस, अद्वितीय परतत्त्वरूप मुझे जानता है।

आप लोगों को सौभाग्य से मनुष्य-जीवन मिला है और देखने से ऐसा लगता है कि मुमुक्षा भी है, संयोग से वृन्दावन धाम भी प्राप्त है। जिसके लिए भक्तजन कहा करते हैं—'यत्र वृन्दावनं नास्ति यत्र नो यमुनानदी। यत्र गोवर्धनं नास्ति तत्र मे न मनःसुखम् ॥' जहाँ श्रीवृन्दावन नहीं है, जहाँ श्रीयमुना नहीं है और जहाँ हरिदास श्रीगोवर्धन नहीं है वहाँ मेरा मन सुख नहीं पाता। अतः ऐसे पवित्र धाम में रहकर आप लोगों को आत्मकल्याण अवश्य करना चाहिये। उसका उपाय है—'तं रसयेत् तं भजेत।' अर्थात् उसी परब्रह्म परमात्मा का सदा भजन करें तथा उसीका सदा अनुभव करें। भगवान् के भजन से धीरे-धीरे अज्ञान मिटता है और जैसे-जैसे उसका अपसरण होता वैसे ही वैसे बुद्धि में धर्म का समादर होता है। उसके बुद्धि में स्वस्थता आती है फिर स्वस्थता के अनुपात से ही मनुष्य के सुख की उन्नति होती है। शास्त्र कहते हैं—'यावद्यावत्तमोऽपैति बुद्धौ धर्मसमाहृतम्। तावत्तावद्धियः स्वास्थ्यं तावत्तावत्सुखोन्नतिः ॥' कहीं भगवान् की असीम कृपा हुई और उनका साक्षात्कार हो गया, तब तो क्या कहना है, फिर तो इसके समस्त सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते तथा इसके सम्पूर्ण

ंशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं एवं हृदय की सभी गुत्थियाँ खुल जाती हैं—
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
ास्मिन्दृष्टे परावरे ॥'

इस प्रकार ब्रह्मदर्शन के पश्चात् मनुष्यदेह कृतकृत्य हो ही
ाती है। जो क्षणभर ब्रह्मविचार में मन स्थिर करता है उसका बड़ा
हत्त्व है। शास्त्र कहते हैं—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनिः,
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥'

जिसका एक क्षण भी मन ब्रह्मविचार में स्थिर हो गया, उसने मानो
मस्त तीर्थों के जलों में स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वी के दान का उसे फल
ल गया, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया, सम्पूर्ण देवताओं के पूजन का भी
ल प्राप्त हो गया, अपने समस्त पितरों का उसने संसार से उद्धार कर दिया
रा वह स्वयं त्रैलोक्य में पूज्य है। अतः मानव देह प्राप्तकर ब्रह्मविचार
श्य करना चाहिये, यही मानवदेह की सार्थकता है।

—:o:—

:: ६ ::

मोक्ष का उपाय

श्रीभगवान् ने कहा है—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः, तन्निष्ठास्तत्परायणः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥' जिस प्रकार सूर्य से रूप का प्रकाश होता है उसी प्रकार श्रवण, मनन आदि ज्ञान से प्रकाशित सच्चिदानन्दघनरूप एकमात्र परमात्मतत्त्व में सम्पूर्ण बाह्य विषयों का परित्यागकर जिनकी अन्तःकरण-वृत्ति लग गयी वे 'तद्बुद्धि' कहे जाते हैं। 'तदात्मा' का अर्थ है—परब्रह्म ही है आत्मा जिनके, अर्थात् जिनका 'मैं ज्ञाता हूँ, भगवान् ज्ञेय है' यह भी भाव मिट गया है। उसी ब्रह्म में स्थिति है जिनकी उन्हें 'तन्निष्ठ' कहते है। ब्रह्म ही है परम अयन अर्थात् प्राप्तव्य जिन लोगों का उन्हें 'तत्परायण' कहते हैं। ऐसे लोग ज्ञान के द्वारा पुण्य-पाप रूप समस्त कल्मषों को दूरकर फिर शरीर ग्रहण नहीं करते, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।' अतः मुक्ति चाहनेवालों को भगवान् के इस वचन का पूर्णरूप से ध्यान रखकर तीव्र संवेग से ऐसे बनने का यत्न करना चाहिए।

वस्तुतः यह जीव परब्रह्म परमात्मा की तरह ही चेतन अमल और सहज सुखराशि है। तुलसीदास ने भी लिखा है—'चेतन अमल सहज सुखराशी।' अब सन्देह होता है कि फिर यह कैसे इन सांसारिक प्रपञ्चों

ंशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं एवं हृदय की सभी गुत्थियाँ खुल जाती हैं—
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
ास्मिन्दृष्टे परावरे ॥'

इस प्रकार ब्रह्मदर्शन के पश्चात् मनुष्यदेह कृतकृत्य हो ही
ाती है। जो क्षणभर ब्रह्मविचार में मन स्थिर करता है उसका बड़ा
हत्त्व है। शास्त्र कहते हैं—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनिः,
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥'

जिसका एक क्षण भी मन ब्रह्मविचार में स्थिर हो गया, उसने मानो
मस्त तीर्थों के जलों में स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वी के दान का उसे फल
ल गया, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया, सम्पूर्ण देवताओं के पूजन का भी
ल प्राप्त हो गया, अपने समस्त पितरों का उसने संसार से उद्धार कर दिया
ग वह स्वयं त्रैलोक्य में पूज्य है। अतः मानव देह प्राप्तकर ब्रह्मविचार
श्य करना चाहिये, यही मानवदेह की सार्थकता है।

—:०:—

:: ६ ::

मोक्ष का उपाय

श्रीभगवान् ने कहा है—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः, तन्निष्ठास्तत्परायणः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥' जिस प्रकार सूर्य से रूप का प्रकाश होता है उसी प्रकार श्रवण, मनन आदि ज्ञान से प्रकाशित सच्चिदानन्दघनरूप एकमात्र परमात्मतत्त्व में सम्पूर्ण वाह्य विषयों का परित्यागकर जिनकी अन्तःकरण-वृत्ति लग गयी वे 'तद्बुद्धि' कहे जाते हैं। 'तदात्मा' का अर्थ है—परब्रह्म ही है आत्मा जिनके, अर्थात् जिनका मैं ज्ञाता हूँ, भगवान् ज्ञेय है' यह भी भाव मिट गया है। उसी ब्रह्म में स्थिति है जिनकी उन्हें तन्निष्ठ' कहते है। ब्रह्म ही है परम अयन अर्थात् प्राप्तव्य जिन लोगों का उन्हें 'तत्परायण' कहते हैं। ऐसे लोग ज्ञान के द्वारा पुण्य-पाप रूप समस्त कल्मषों को दूरकर फिर शरीर ग्रहण नहीं करते, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।' अतः मुक्ति चाहनेवालों को भगवान् के इस वचन का पूर्णरूप से ध्यान रखकर तीव्र संवेग से ऐसे बनने का यत्न करना चाहिए।

वस्तुतः यह जीव परब्रह्म परमात्मा की तरह ही चेतन अमल और सहज सुखराशि है। तुलसीदास ने भी लिखा है—'चेतन अमल सहज सुखराशी।' अब सन्देह होता है कि फिर यह कैसे इन सांसारिक प्रपञ्चों

में फँस अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठा ? विचार करने पर उसका मूल कारण 'अध्यास' ठहरता है। विश्व-प्रपञ्च के भीतर आत्मा और अनात्मा, जिसे जड़ और चेतन कहा जाता है, ये दो ही तत्त्व हैं। जन्म, जरा, मरण आदि समस्त दुःखजाल अनात्मा जड़देही हैं। आत्मा, चेतन तो शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव तथा आनन्दस्वरूप है। इन दोनों का परस्पर तादात्म्याध्यास हो गया है, अर्थात् दोनों अपने को एक समझ गये हैं जिससे जडगत सभी उपद्रव जीवात्मा में मालूम पड़ते हैं और जीव जड-गत सभी दु:खों का अनुभव करता है।

हम लोगों के इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी है जिसका निर्माण १७ तत्त्वों से होता है। उसीको 'लिङ्ग' या 'कारण-शरीर' कहते हैं। जब इसका अन्त हो जाता है तभी मानव संसार से छुटकारा पाता है। यह संसार त्रिगुणात्मक है। जब मनुष्य के भीतर सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तो वैराग्य, रजोगुण के उद्रेक में क्रोध तथा तमोगुण के बाहुल्य में प्रमाद का उदय होता है। इन्हीं सब वृत्तियों के कारण जीव अनादि काल से कभी मानवादि तो कभी देवादि योनियों में भटकता है। लाख कोशिश करने पर भी इसका भटकना मिटता नहीं। कारण यही है कि हम लोग बड़े उच्छृङ्खल हो गये हैं। स्वयं ही इसके लिए कल्याण का मार्ग निर्धारण करते हैं जिसका परिणाम अनेक अनर्थों से परिप्लुत भवाटवी में भटने के सिवा और कुछ नहीं होता।

बहुत से लोग कल्याण की भावना से भावित हो देवताओं और ऋषियों का अनुकरण करने लगते हैं, पर उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये

कारण देवताओं और ऋषियों में जो सामर्थ्य है वह मनुष्यों में नहीं होती। उन्हें तो देवता और ऋषियों ने जो कहा वही करना श्रेयस्कर है। क्योंकि सर्वज्ञकल्प देवता और ऋषियों ने जो कुछ कहा वह हमारा सामर्थ्य देखकर ही कहा है। इसीलिए शास्त्र कहते हैं—'अनुष्ठितं हि यद्देवैः, ऋषिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेयं मनुष्येण, तदुक्तं धर्म-माचरेत्॥'

कल्याणकामी पुरुष को किसी के प्रति शत्रुता नहीं करनी चाहिये। शत्रुता का परिहार करने के लिए सर्वोत्तम मार्ग अहिंसा का है। यदि अपने में अहिंसाभाव की प्रतिष्ठा हो जाय तो हमारी हिंसावृत्ति तो समाप्त हो ही जायगी हमारे सन्निधान में रहनेवाले अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव के प्राणी—जिनको परस्पर सहज वैरी समझा जाता है, जैसे अश्व-महिष, मूषक-मार्जार, अहि-नकुल आदि भी परस्पर वैर का परित्याग कर देंगे। योगसूत्र में लिखा है—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'

अहिंसा-व्रत का भलीभाँति पालन करने के कारण धर्मराज को 'अजातशत्रु' कहा जाता है। महाराज युधिष्ठिर बड़े दयालु भी थे। अन्त समय में वे परीक्षित को राज्य देकर सभी भाइयों के साथ हिमालय की ओर चल दिये। साथ में चारों भाई, पत्नी द्रौपदी तथा एक कुत्ता भी था। अर्जुन को गांडीव धनुष पर बड़ी ममता थी, अतएव उन्होंने उसे भी साथ ले लिया। बीच में अग्निदेव ने उन्हें रोककर कहा कि 'पाण्डवो! मैं अग्नि हूँ। अर्जुन तथा श्रीकृष्ण के प्रभाव से प्रभावित

खाण्डव वन को मैंने ही जलाया था। अब अर्जुन गाण्डीव को छोड़कर जायँ। इसका अब इन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। इसे मैं ही इनके प्रयोजन के लिए वरुण से माँगकर लाया था। अब यह श्रेष्ठ धनु वरुण को दे दिया जाय।' सभी भाइयों ने अर्जुन से कहा और अर्जुन ने उसे जल में छोड़ दिया। सभी आगे बढ़े और हिमालय पार करने के बाद उन्हें सुमेरु पर्वत मिला। इतने ही में सबसे पीछे चलनेवाली द्रौपदी गिर पड़ी और मरने लगी। भीम ने, जो युधिष्ठिर के पीछे थे, धर्मराज से पूछा—"महाराज! द्रौपदी ने कोई भी अधर्म नहीं किया, फिर यह क्यों गिर पड़ी?' युधिष्ठिर ने कहा कि द्रौपदी हम पाँच जनों की स्त्री थी, इसे चाहिये था कि यह हम पांचों में समान स्नेह रखे। किन्तु यह ऐसा न कर अर्जुन में ही अधिक स्नेह करती थी, उसीका यह फल भोग रही है—"पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये। तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम॥'

आगे बढ़ने पर सहदेव गिर पड़े। भीम ने पूछा—'धर्मराज! जो यह सहदेव निरभिमान होकर हम सबकी समानरूप से सेवा करता था वह भी गिर पड़ा, क्या कारण?' युधिष्ठिर ने कहा—यह अपने समान किसीको पण्डित नहीं मानता था, उसी दोष का यह फल भोग रहा है—'आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कञ्चन। तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः॥'

इसी प्रकार नकुल गिरे। भीम ने कारण पूछा। युधिष्ठिर ने कहा—'यह अपनेको सबसे सुन्दर मानते थे।' अर्जुन गिरे, भीम ने पूछा।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—इसने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध प्रारम्भ होने पर एक ही दिन में सभी शत्रुओं को मार डालूँगा। सो इन्होंने वैसा नहीं किया, इसी पाप से ये भी गिर पड़े—'एकाह्नि दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्। न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥'

अन्तिम में स्वयं भीम गिर पड़े और युधिष्ठिर से कहा—'राजन्! देखो, मैं भी गिर पड़ा, मैं तो तुम्हारा बड़ा प्रिय हूँ। यदि जानते हो कि मैं क्यों गिर पड़ा तो बताते जाओ।' युधिष्ठिर ने कहा—'तुम बहुत भोजन करते थे तथा अपने बल का तुम्हें बड़ा अभिमान था। इसीलिए तुम गिर पड़े।' ऐसा कहते हुए युधिष्ठिर गिरे हुए सबकी ओर बिना देख आगे बढ़ चले।

इतने में ही एक दिव्य रथ लेकर इन्द्र पधारे और धर्मराज से कहा 'आप इसपर बैठें।' धर्मराज ने कहा—'सहस्राक्ष! ये मेरे भाई तथा पत्नी पड़ी हैं। इन्हें छोड़ मैं अकेले स्वर्ग नहीं जा सकता। यदि आप इन्हें भी साथ ले चलें तो मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँ, अन्यथा विवश हूँ। इन्द्र ने कहा—'ये लोग मनुष्य शरीर छोड़कर स्वर्ग चले गये, वहाँ आप इनसे मिल लीजिएगा। आपको मैं इसी शरीर से ले चल रहा हूँ।'

युधिष्ठिर ने कहा—'इन्द्रदेव! कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है। और यहाँ तक इसने हमारा साथ नहीं छोड़ा तो अब इसका साथ मैं कैसे छोड़ूँ? अतः आप मेरे साथ इसको भी चलने की आज्ञा दें।' इन्द्र ने कहा—'अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्, श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम्। सम्प्राप्तोऽथ स्वर्गसुखानि च त्वं, त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥'

'राजन् ! देवत्व, मेरी समता, सम्पूर्ण लक्ष्मी, महती सिद्धि तथा स्वर्ग-सुख आपने प्राप्त कर लिया। अब कुत्ते को छोड़िये, इसमें कोई नृशंसता नहीं है।, युधिष्ठिर ने कहा--'अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र, शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्यं। मा मे श्रियासङ्गमनं तयाऽस्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥' 'सहस्रनेत्र ! श्रेष्ठ पुरुष के द्वारा नीच कर्म होना अत्यन्त दुष्कर है। मैं उस लक्ष्मी को नहीं चाहता जिसके सङ्गम से अपने भक्तजन का त्याग करना पड़े।'

इन्द्र ने कहा--'स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति। ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज ! त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥' 'कुत्ते को साथ-साथ रखनेवाले अपवित्र होते हैं, अतः उनके लिए स्वर्ग में स्थान नहीं होता। क्रोधवश नाम के देवगण अपवित्र जनों के इष्टापूर्त के फल को हरण कर लेते हैं। अतः आप पूर्ण विचार करिये। मेरी समझ में तो कुत्ते को छोड़ दीजिये, इसमें कोई नृशंसता नहीं है।' युधिष्ठिर ने कहा--'भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन। तस्मान्नाहं जातु कथं च नाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥ भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः। मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥' 'शक्र ! संसार में भक्तजन का त्याग ब्रह्महत्या के समान माना गया है इसलिए अपने सुख के लिए मैंने इसके पहिले न कभी भक्तत्याग किया और न आज करूँगा। शरणागत को भय देना, स्त्री का वध करना, ब्राह्मण के धन का अपहार करना, मित्र के

साथ द्रोह करना तथा भक्तजन का त्याग करना इन चारों को एक समान मानता हूँ।'

धर्मराज की बातें सुनकर कुत्ते का शरीर धारण करनेवाले धर्म भगवान् प्रसन्न हो गये और बोले—"युधिष्ठिर! आप अतिकुलीन हो। वृत्त, मेधा तथा प्राणियों में कृपा करके अपने पिता के तुल्य हो। द्वैतवन में मैंने आपकी परीक्षा की थी, जब आपके उत्तर से प्रसन्न होकर यक्षरूप-धारी मैंने आपसे कहा था कि—'अपने मरे हुए चारों भाइयों में से एक किसीको आप जिलवा लो।' उस सयय आपने यह कहा कि 'जब एक ही को जीना है तो आप नकुल को जिला दें।' मैंने कहा—'अतिवीर अपने सहोदर भाई भीम, अर्जुन में से क्यों नहीं आप किसी एक को जिलवाते?' तो आपने उत्तर दिया था कि 'हम अपनी माँ के एक हैं ही, हमारी दूसरी माँ का लड़का रहना चाहिये अतः नकुल को ही मैं जिलवाना चाहता हूँ' और इस समय आपने एक साधारण कुत्ते के लिए इन्द्र-रथ का परित्याग कर दिया। अतः आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो। स्वर्ग में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिससे आपका सत्कार किया जाय।"

मुमुक्षु को इन सब कथाओं से शिक्षा लेनी चाहिये। जिनसे अनर्थ होने की सम्भावना हो उनका परित्याग करना तथा मोक्षमार्ग के सहायक गुणों को प्रतिक्षण अपनाना चाहिये। साथ ही 'तद्बुद्धयस्तदात्मनः' इत्यादि भगवान् के वचन के अनुसार आचरण करना ही मोक्षप्राप्ति का मार्ग है।

॥ १० ॥

मुमुक्षु के लिए आवश्यक कर्तव्य

'ईशावास्योपनिषद्' का प्रथम मन्त्र मुमुक्षुओं के लिए उपदेश करता है—'ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥' अर्थात् पृथ्वी में जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक है वह सब परमात्मा के द्वारा आच्छादित है। जिस प्रकार चन्दन, अगरु आदि की, जलादि के सम्बन्ध से उत्पन्न गीलेपन आदि के कारण पैदा हुई, औपाधिक दुर्गन्धि चन्दन आदि के स्वरूप-घर्षण से उनकी वास्तविक गन्ध से आच्छादित हो जाती है; उसी प्रकार स्वात्मा में अध्यस्त स्वाभाविक कर्तृत्वादि लक्षणोंवाला जगत्—द्वैत, नाम-रूपात्मक समस्त विकारसमूह—परमार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा की भावना से परित्यक्त हो जाता है, अर्थात् सभी आत्मस्वरूप हो जाता है। अतः उन सबका त्यागकर अपना पालन करो। अपने या पराये किसी भी धन की आकांक्षा न करो। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु को सभी सांसारिक एषणाओं (पुत्र-एषणा, वित्त-एषणा एवं लोक-एषणाओं) को त्यागकर ज्ञाननिष्ठा द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिये।

और जो अभी मुमुक्षु नहीं है, अर्थात् अभी आत्मज्ञान का अपने को अधिकारी नहीं समझते उन्हें भी आत्म-ज्ञान का अधिकारी बनने के लिए

तीन बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए—'मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥' परायी स्त्रियों में अपनी माता में जैसी भावना होती है वैसी भावना होनी चाहिये। परकीय द्रव्य लोष्ठ की तरह, (अर्थात् जैसे मार्ग में पड़े ईंट-पत्थर के टुकड़ों को निःसार) समझकर उसका आदान नहीं करना चाहिये और सभी प्राणियों में आत्मवत्, अर्थात् जैसे अपने को इष्ट-अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति एवं मानापमान में सुख-दुःख का अनुभव होता है उसी प्रकार दूसरे को इन सबका अनुभव होता होगा, अतः उनके प्रति विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये। इस विषय में श्रीव्यासजी ने एक बड़े मार्के का श्लोक कहा है, सभी को उसका अनुसरण करना चाहिये। वे कहते हैं कि सभी धर्मों का सार सुनो और सुनकर उसे भूल मत जाओ, अपितु उसपर चलने का निश्चय करो। क्योंकि जो आचरण अपने को प्रतिकूल जँचता हो वह दूसरे प्रति न करो—'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥'

'मातृवत् परदारेषु' का उज्ज्वल उदाहरण महाभारत में मिलता है। वनपर्व की कथा है—पाण्डव वनवास में थे, कि इन्द्र ने अर्जुन को स्वर्ग बुलाने के लिए मातली द्वारा रथ भेजा। अर्जुन उस रथ से स्वर्ग पहुँचे। वहाँ इन्द्र ने उन्हें बड़े आदर से आलिङ्गनकर अपने अर्धासन पर बैठाया। अर्जुन ने सुख-पूर्वक वहां रहकर युद्ध में विजय प्राप्त करने में सहायक अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। एक दिन इन्द्र ने अर्जुन के

मनोरञ्जन के लिए उर्वशी आदि अप्सराओं से नृत्य कराया। उस समय अर्जुन ने बिना किसी विशेष : मनोभाव के ही उर्वशी की ओर कुछ विशेष देखा जिसका अर्थ इन्द्र ने यह लगाया कि 'कदाचित् अर्जुन उर्वशी को चाहते हैं।' फलतः उन्होंने चित्रसेन नामक गन्धर्व से कहलवा दिया कि 'आज उर्वशी रात्रि में अर्जुन के पास जाय।'

खूब सज-धजकर उर्वशी अर्धरात्रि में सोये हुए अर्जुन के पास गयी। इस प्रकार अपने कमरे में उर्वशी को आयी देख लज्जा के मारे अर्जुन की आँखें बन्द हो गयीं और उन्होंने उसे प्रणाम करते हूए आदरपूर्वक कहा—'अप्सराओं में श्रेष्ठ देवि ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, क्या आज्ञा है ? दास सेवा के लिए प्रस्तुत है।' सुनकर उर्वशी अत्यन्त आश्चर्यचकित हुई और चित्रसेन द्वारा इन्द्र से कहलवायी सभी बातें कहीं—'तुम्हारे पिता इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास तुम्हारी सेवा करने के लिए भेजा है, तुम्हारे गुणों से मैं स्वयं आकृष्ट होकर कामशरों से पीड़ित हूँ, कृपाकर मेरा मनोरथ पूरा करो।' वीर अर्जुन को यह शास्त्रवचन याद था कि नपुंसक हो जाना अच्छा, किन्तु परस्त्रीगमन अच्छा नहीं—वरं क्लैब्यं पुंसां न च पर-कलत्राभिगमनम्।' अतः उसने बड़े नम्र शब्दों में उर्वशी से निवेदन किया कि हे 'देवि ! जैसे माता कुन्ती, माद्री और इन्द्राणी मेरे वंश की जननी हैं वैसे आप भी हमारी जननी और परमपूज्या हो। अतः आपके चरणों में शिर रखकर प्रणाम करता हूँ। आप पुत्र की तरह मेरी रक्षा करें और यहाँसे चली जायँ—'यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे। तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी॥ गच्छ मूर्ध्ना

प्रपन्नौऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि। त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥'

यह सुन कुपित होकर उर्वशो ने अर्जुन को शाप दे दिया—'जा नपुंसक हो जा।' वीरवर अर्जुन ने नपुंसकता स्वीकर की, किन्तु मातृवत्-परदारेषु' का उल्लंघन नहीं किया।

आजकल स्त्रियों को बड़ी स्वच्छन्दता दी जा रही है। परपुरुषों से वे किसी प्रकार के संकोच नहीं करती। पुरुष भी उनके साथ वैठने-उठने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते। यह स्थिति देश एवं स्त्री पुरुष की सच्चरित्रता के लिए वड़ी भयावह है। शास्त्र तो माँ और बहन के साथ भी एकान्त में वैठने का निषेध करते हैं–'मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वाँसमपि कर्षति ॥' अतः शास्त्रों के इन नियमों का सबको पालन करना चाहिये, तभी सिद्धि मिल सकती है। व्यासजी ने अपने सभी पुराणों का तात्पर्य एक ही श्लोक में संकलित कर दिया है, वे कहते हैं—'अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥' इसीका ठीक अनुवाद सन्त तुलसीदास ने इस प्रकार किया है—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अघमाई ॥'

इसी प्रकार साधक के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम वताये गये हैं। इन सबका भी आदरसहित सेवन करना चाहिए। आजकल

लोग 'शौच' से हाथ-पाँव में मिट्टी लगाना ही समझते हैं। किन्तु शास्त्र में 'अर्थशौच' को बड़ा महत्त्व दिया है! मनु ने कहा है कि मृत्तिका-जलनिमित्तक देह शौच, मनःशौचादि सभी शौचों में अर्थ-शौच अर्थात् अन्याय से दूसरे के धन के अपहरण का परित्यागकर धनविषयक इच्छा को सबसे बड़ा शौच कहा गया है। जो अर्थ के विषय में शुद्ध है वही शुद्ध है और मृत्तिका, जल आदि से शुद्ध भी है, किन्तु अर्थ के विषय में अशुद्ध है तो वह अशुद्ध ही है—'सर्वेषामेव शौचानामर्थ-शौचं परं स्मृतम् । योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥'

यज्ञ का दुष्परिणाम हुआ जानकर जनमेजय ने प्रश्न किया। ऋषियों ने उत्तर दिया कि अशुद्ध धन से यज्ञ सम्पन्न हुआ, इसीसे यह दुष्परिणाम हुआ। इसलिए साधक को अर्थशौच पर भी पूर्णरूप से ध्यान देना चाहिए। अशुचि अन्न के सेवन से मन अपवित्र होता है और उससे भाव दुष्ट होता है। दुष्ट भाव से मोक्ष प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। भीष्म पितामह कौरवों की ओर थे, किन्तु भाव पाण्डवों की विजय का था। शरीर के विपरीत दिशा में रहने पर भी भाव की विजय हुई।

साधन में ब्रह्मचर्य भी बहुत आवश्यक है। आज के लोग 'ब्रह्मचर्य' किसे कहते हैं, यह भी नहीं समझ पाते। शास्त्रों ने उसे बड़ा कठिन बताया है। उनका कहना है कि केवल क्रियानिवृत्ति ही ब्रह्मचर्य का विघातक नहीं, अपितु स्त्री का स्मरण, उसके रूपादि का कीर्तन, उसके साथ क्रीड़ा, उसका दर्शन, उसके साथ एकान्त में भाषण, उससे मिलने का

संकल्प, उसके लिए व्यापार तथा मिलने पर क्रियानिर्वृत्ति इन आठों को विद्वान् लोग 'मैथुन' कहते हैं। मुमुक्षुओं को इन आठों प्रकार के मैथुनों के त्यागरूप ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करना चाहिये—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥'

इस प्रकार मुमुक्षु के लिए शास्त्रों में जो मोक्षोपाय बताये गये हैं, समादरपूर्वक उनका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। साथ ही बड़ी दृढ़ता से भगवान् की शरण भी जाना चाहिये, फिर तो कल्याण अवश्य ही होगा।

॥ ११ ॥

सद्भावना का महत्त्व

केवल किसी बात के सुनने से ही उतना लाभ नहीं होता जितना सुनने के अनुसार अनुष्ठान करने से। शास्त्र में एक जगह चारों युगों का लक्षण करते हुए लिखा है कि कलियुग कलियुग नहीं, अपितु उचित कार्य का ज्ञान हो जाने पर भी सोये पड़े रहना और उसके लिए उचित प्रयत्न न करना कलियुग है। इसी प्रकार उस कार्य को करने के लिए आलस्य त्यागना द्वापर, कार्य में उद्यत होना त्रेता तथा उसमें संलग्न होकर उसे सम्पादन करने लग जाना सत्ययुग है—'कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते परम् ॥' अतः दृढ़प्रतिज्ञ होकर आत्मकल्याण के कार्य में संलग्न हो जाना चाहिये।

इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है सद्भावना की। भावना अच्छी होने पर प्राणी के कल्याण में कोई बाधा नहीं होती। इसलिए उत्तम भावना बनानी चाहिये। साथ ही अपने ज्ञान और कर्म को भी शुद्ध करना चाहिये। सिद्धान्त तो यह है कि ज्ञान कर्म भी भावना ही का अनुसरण करते हैं, अतः प्रधानता भावना की ही है। साधनावस्था में चित की शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित होती है और चित्तशुद्धि ही भावना के पवित्र होने का मूल है। चित्त की शुद्धता के लिए योगसूत्रकार का कहना है—'मैत्री-

करुणामुदितोपेक्षांणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' सुखी प्राणी में मैत्री सौहार्द, दुःखी में करुणा-कृपा, पुण्यशील में मुदिता-हर्ष, और अपुण्य—पापी में उपेक्षा-उदासीनता करने से चित्त की शुद्धि होती है। अर्थात् सुखसंयुक्त सभी प्राणियों को देखकर ऐसी भावना करे कि 'ठीक है, मेरे मित्रों को सुख हो रहा है', इस प्रकार मैत्री की भावना करने से ईर्ष्या की भावना समाप्त हो जाती है। दुखितों को देखकर किस प्रकार इनका दुःख दूर होगा', इस प्रकार कृपा की भावना करनी चाहिये, उपेक्षा अथवा हर्ष नहीं मानना चाहिये। पुण्यशीलों को देखकर उनके पुण्य का अनुमोदन करते हुए प्रसन्न होना चाहिये, विद्वेष तथा उपेक्षा का भाव नहीं अपनाना चाहिये। इसी प्रकार पापियों के समक्ष आने पर उनमें उदासीनता का भाव अपनाना चाहिये, न कि उनके पाप का अनुमोदन तथा द्वेष करना चाहिये। ऐसा करने से शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है। फिर राग-द्वेषादिमलरहित होकर मन प्रसन्न होता तथा भावना अत्यन्त पवित्र हो जाती है। कर्म के कदाचित् ठीक न होने पर यदि भावना पवित्र हो तो प्राणी का कल्याण होता है।

कहते हैं कि एक राजमार्ग (सड़क) के दोनों तरफ आमने-सामने एक वेश्या तथा संन्यासी रहते थे, दोनों युवक थे। वेश्या अपने जाति-पेशे में लगी भजन करनेवाले उस संन्यासी बाबा को देखकर अपने को धिक्कारती मनमें सोचती कि 'मैं बड़ी पापिन हूँ, इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हूँ, संन्यासी बाबा का जीवन बड़ा उत्तम है, सर्वस्व त्यागकर अपना मन भगवद्भजन में लगा दिया है।' उधर संन्यासी इसे देखकर इसके विपरीत सोचते—'मैं

बड़ा हतभाग्य हूँ कि इसी अवस्था में बाबा बन बैठा, संसार के सुख का कुछ भी अनुभव नहीं किया, यह वेश्या ही धन्य है जो अपनी युवावस्था को मौज तो ले रही है।' फलतः यही सोचते दोनों का महाप्रयाण हुआ। भावना के अनुसार ही वेश्या को स्वर्गादि पुण्यलोकों की प्राप्ति हुई और संन्यासी बाबा को नरक जाना पड़ा। अतः भावना उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है।

जो व्यक्ति दान करने में समर्थ नहीं है वह भी दान की भावना कर सकता है। उससे वह भले ही दान न कर सके, किन्तु लेने की बुरी भावना से तो बच जायगा। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'कलियुग कर यह पुन्य-प्रतापा। मानस-पुन्य होहिं नहिं पापा।' अन्ततः इसका भी अर्थ यही है कि पुण्य की भावना से ही पुण्य हो जाता है और मानसकृत पाप से पाप नहीं होता। इसका यह तात्पर्य है कि यदि मन से कोई पाप हो जाय तो भी कर्म से उसका आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे वह वहीं दबकर नष्ट हो जाय।

महाभारतकार ने भी कहा है—'मनसा रोचयन्पापं कर्मणा नाभि-रोचयेत्। न प्राप्नोति फलं तस्य इति धर्मविदो विदुः॥' यदि मन से पाप हो भी जाय तो उसे कर्म से नहीं करना चाहिये क्योंकि मानसिक पाप का फल उसे नहीं होता। यह भावना के ही शुद्ध करने का उपाय है। भावना के दूषित होने पर प्राणी को जहाँ दूसरे के दुःख को दूर करने के लिए स्वयं दुःखी होना चाहिये वहाँ वह इसके विपरीत दूसरे को अधिक दुःख हो, इसके लिए अपने थोड़ा दुःख उठाने को प्रस्तुत हो जाता है।

कहा जाता है कि एक दरिद्र ब्राह्मण थे, उसपर भी अधिक सन्तानें हो गयीं। शास्त्र की आज्ञा है कि दरिद्र को तप करना चाहिये, वे भी उसीके अनुसार दरिद्रा देवी से मुक्ति पाने के लिए तप करने लगे। फलतः उन्हें एक शंख प्राप्त हुआ। शंख में विशेषता थी कि ब्राह्मणदेव जितनी वस्तु उससे लेंगे उसकी दूनी उनके पड़ोसी को मिल जायँगी। ब्राह्मण देव की भावना अत्यन्त दूषित थी। अपनेसे दूनी सुखसामग्री की वस्तु पड़ोसी को मिलने की बात उन्हें स्वप्न में स्वीकार नहीं थी, भले ही शंख से बिना कुछ माँगे वे बाल-बच्चों सहित स्वयं भूखों मरें। उन्होंने शंख घर में रख छोड़ा और कभी कुछ नहीं माँगा। दुर्भावना इतनी जबरदस्त थी कि इतने से भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि यह शंख धन-सम्पत्ति हमसे दूनी हमारे पड़ोसी को प्रदान कर सकता है तो यदि मैं स्वयं एकाक्ष होने की इससे प्रार्थना करूँ तो अवश्य ही मेरा पड़ोसी दोनों आँखों से अन्धा हो जायगा। यह दुर्भावना का दुष्परिणाम है जिससे दूसरे को अन्धा बनाने के लिए अपने एकाक्ष होना भी उचित ही प्रतीत होता है।

इसलिए हमारा आप लोगों से कहना है कि इतने दिन के सत्संग से देखना चाहिये कि हमारी भावना में कुछ अन्तर हुआ या नहीं। यदि हुआ तो हम लोगों का सत्संग सफल हुआ। यदि न भी हुआ तो कोई चिन्ता की बात नहीं। प्रयत्न जारी रखना चाहिये, साथ ही भगवान् की कृपा का भी भरोसा रखना चाहिये! भगवान् बड़े दयालु हैं वे अवश्य ही भावना को शुद्ध करेंगे। और भावना शुद्ध होते ही प्राणी को आत्म-

स्वरूप का ज्ञान होगा। फिर तो जीवन सफल हो जायगा। जीवन की सफलता के लिए अपने में सद्भावना लानी होगी और सद्भाव लाने के लिए अध्यात्म-पाठशाला में नाम लिखाना होगा। वह आज लिखाइये चाहे दस-पाँच जन्म के बाद, बिना लिखाये जीवन के सफलता की कुञ्जी प्राप्त नहीं हो सकती। अध्यात्म-पाठशाला में ही यह पाठ पढ़ाया जाता है कि प्राणिमात्र उस परम प्रसिद्ध अमरणधर्मा परमात्मा के ही पुत्र हैं—'अमृतस्य पुत्राः।' जहाँ अध्यात्म पाठशाला का यह पाठ आपके चित्त में बैठा वहीं परमकल्याणकारिणी सद्भावना देवी का प्रादुर्भाव हुआ। और आप प्राणी मात्र में उस परम तत्त्व को देखने लगे कि आपका कल्याण सुनिश्चित है। अतः अपने में सद्भावना लानी चाहिये। सद्भावना का बड़ा महत्त्व है।

॥ १२ ॥

सभी शास्त्रों का तात्पर्य

"आलोच्य सर्वशास्त्राणि सुविचार्यं पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥' अर्थात् सभी शास्त्रों का मन्थन करने तथा बार बार अच्छी तरह विचार करने पर यही सिद्ध हुआ कि सदा भगवान् नारायण का ही ध्यान करना चाहिये। अपने-अपने इष्टदेव की शरण जाकर सदा उन्हींका भजन एवं ध्यान करना ही कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग हैं। मतभेद तो सदा से रहा है। सांसारिक मानवों का कुछ और ही सिद्धान्त है। इन सब बातों को व्यासजी बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं—'केचिद्वदन्ति धनहीननरो जघन्यः केचिद्वदन्ति जनहीन-नरो जघन्यः। व्यासो वदत्यखिलशास्त्रविचारदक्षो नारायण-स्मरणहीननरो जघन्यः॥' किन्हीं सांसारिक लोगों का कहना है कि धन रहित मनुष्य अधम है तो किन्हींका कहना है कि कुटुम्ब से हीन मानव अधम है। किन्तु समस्त शास्त्रों के विवेचन में परम कुशल महर्षि व्यास का तो कहना है कि धनहीन एवं जनहीन अधम नहीं, अपितु, जो भगवान् नारायण का स्मरण नहीं करता वही अधम हैं। इस प्रकार महर्षि व्यास के सिद्धान्तानुसार यह निश्चय हो गया कि भगवान् श्रीनारायण का सदा स्मरण करना चाहिये।

ससार की जितनी वस्तुएँ हैं, सभी माया के द्वारा कल्पित है, अतः मायिक हैं, शुक्ति में आभासमान रजत की तरह मिथ्या हैं। अतः इन सबसे मन हटाकर सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर भगवान् के मङ्गलमय चरणों में अपने को अर्पण कर देना चाहिए। प्रभु की महिमा अपार है। चराचरात्मक समस्त प्रपञ्च उन्हीं से उत्पन्न होता और उन्हीं में लीन होता है। वस्तुतः आत्मरूप से वही एक पारमार्थिक तत्त्व है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'मय्यखण्डसुखाम्बोधौ वहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥' जिस प्रकार समुद्र में वायु के झोकों से अनेकविध लहरें उत्पन्न और विलीन होती रहती है उसी प्रकार मुझ अखण्डसुखरूपी समुद्र में मायारूपी वायु के विभ्रम से अनेकविध विश्व उत्पन्न और विलीन होता रहता है। अतएव विद्वान् लोग इस अत्यन्त अलीक विश्व-प्रपञ्च में आसक्त न होकर वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म-तत्त्व में चित्त लगाते हैं। इसीलिए शास्त्र कहते हैं—'श्रद्धाभक्ती पुरस्कृत्य हित्वा सर्वमनार्जवम्। वेदान्तस्यैव तत्त्वार्थे मतिं कुर्याद् दृढां बुधः ॥' बुद्धिमान के लिए उचित है कि वह सभी कुटिलताओं को छोड़ श्रद्धा और भक्ति के साथ दृढ़ता पूर्वक वेदान्तप्रतिपाद्य तत्त्व में ही मन लगाये।

भगवान् व्यास कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक कीट मिला। वह बोला—'वह देखिये गाड़ी आ रही है, वह मेरे ऊपर से निकल जायगी और मैं मर जाऊँगा।' ठीक ऐसा ही हुआ, गाड़ी आयी और वह श्री व्यासजी के देखते-देखते ही उसके ऊपर से निकल गयी और

कीट मर गया। मरने के वाद वह शूद्र हुआ और व्यासजी के आश्रम में रहने लगा। महर्षि के सत्सङ्ग एवं अनुकूल प्रारव्ध के कारण शूद्रयोनि के वाद क्रम से वह वैश्य तथा क्षत्रिययोनि में आकर अतिश्रेष्ठ ब्राह्मण-योनि में उत्पन्न हुआ, जो महर्षि मैत्रेय ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुए। कीट होने से पूर्व वे एक वहुत वड़े विद्वान् तथा उपदेशक थे। किन्तु परस्त्री के साथ पड़कर कामी हो गये, जिससे उन्हे घोर नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ी एवं कीटादि योनि में जाकर महान क्लेश का अनुभव करना पड़ा। भोग के द्वारा पाप समाप्त हुआ तथा पूर्वपुण्यवश महात्मा की सत्सङ्गति प्राप्त हो पुण्य का फल मिला।

सारांश, सत्सङ्ग की वड़ी महिमा है, अतः सत्सङ्ग प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। इसीसे अच्छे संस्कार बनते और उन्हीं संस्कारों के अनुसार हमारा निर्माण होता है। इसीलिए किसी विवेकी का कथन है—

'प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा। मुनेस्तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥" पूर्वार्जित अनेकविध वासनाएँ (संस्कार) जिन-जिन कार्यों में मुझे प्रवृत्त कराती हैं, मैं उन्हीं-उन्हीं में प्रवृत्त होता हूँ। हे मुने! मैं वड़ा कृपण हूँ, क्या करूँ? विवेकी को अपनी भावनाओं की पवित्रता के लिए सर्वथा सचेष्ट रहना चाहिये। क्रमशः पवित्र भावनाएँ उन्नति एवं दूषित भावनाएँ पतन की ओर ले जानेवाली होती हैं।

मानवशरीर प्राप्त करने का एकमात्र यही फल है कि वह श्रेय तथा प्रेयोमार्ग को भलीभाँति समझे और उनमें प्रयत्नपूर्वक श्रेयोमार्ग का

ही अनुसरण करे। शास्त्र कहते हैं—'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥' मनुष्य के समक्ष दो मार्ग उपस्थित होते हैं, एक श्रेय और दूसरा प्रेय। श्रेय आत्मकल्याण का मार्ग है, उसमें अभिप्रेत लौकिक विषयसुख नहीं मिलते। प्रेम वैषयिक सुखों की ओर ले जानेवाला मार्ग है। विवेकी पुरुष दोनों पर विचार करता और श्रेयो मार्ग को ही स्वीकार करता है। किन्तु मन्द अर्थात् अविवेकी अपने योग (अलब्ध का लाभ) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) की दृष्टि से प्रेय को ही अपनाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'क्या किया जाय? भगवान् ने जो मार्ग पकड़ा दिया, चाहे वह श्रेयोमार्ग हो या प्रेय, उसे कैसे छोड़ा जाय?' पर यह उनका नितान्त भ्रम है, कारण शास्त्र कहते हैं—'ईश्वरस्तु पर्जन्य वद् द्रष्टव्यः।' अर्थात् ईश्वर को पर्जन्य यानी मेघ के समान समझना चाहिए। जैसे मेघ जल, स्थल आदि सभी जगह जलवर्षण में समता रखता है वैसे ही भगवान् सब प्राणियों को समान देखते हैं, वे स्वयं किसीको श्रेयोमार्ग तथा किसीको प्रेयोमार्ग का ग्रहण नहीं कराते। एकतर मार्ग का ग्रहण करना तो अपने पौरुष पर निर्भर है। अतः बड़ी दृढ़ता के साथ मानव को श्रेयोमार्ग ही ग्रहण करते हुए शास्त्रों के एकमात्र तात्पर्य भगवद्भजन में निरत होना चाहिए। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।

॥ १३ ॥

भगवत्साक्षात्कार का मार्ग

कभी कभी मानव सांसारिक उलझनों में उलझकर उनसे छूटना चाहता है किन्तु वह जितना उनसे छूटने का प्रयत्न करता है, उतना ही उससे अधिक अपनेको उलझता पाता है। देखते-देखते उसकी सारी अनुकूल परिस्थितियाँ भी विपरीत हो जाती हैं। उसे ऐसा लगता है मानो मैं सदाके लिए इनका क्रीतदास हो गया। ऐसी स्थिति में उस अत्यन्त निराश प्राणी पर कृपाकर परम कृपालु शास्त्र कहते हैं, मानव ! इतना निराश क्यों होता है ? यह सारा जगत् जिस सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर प्रभु में कल्पित हैं उस देवाधिदेव को जानो। उसके जानते ही तुम्हारे ये सारे बन्धन सदा के लिए विलीन हो जायँगे—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः।'

इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः॥' अर्जुन सम्पूर्ण सांसारिक उपद्रवों का मूल मन है, उसी मन को संहार (निकाल) कर तुम मुझमें लगा दो। इतना नहीं, जिस बुद्धि के द्वारा संसार का तुम्हें भान होता है उस बुद्धि को भी मुझे अर्पण कर दो अर्थात् मुझसे अतिरिक्त तुम किसीका चिन्तन ही न करो। इस प्रकार करने से तुम्हारे

मन और बुद्धि में यह दृढ निश्चय हो जायगा कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ऐसी स्थिति में जब संसार ही नहीं, तो सांसारिक उलझनें कहाँ ? फिर तो इस शरीर के बाद मुझमें ही निवास करोगे, जहाँ पहुँच जाने पर सर्वदुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि संसार का प्रत्येक मानव अपने आसपास ऐसा शुद्ध वातावरण उपस्थित करे जिससे प्राणिमात्र को अविद्या एवं तत्कार्य-रूप सांसारिक समस्त दुःखजालों से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति में पूर्ण सहायता मिले।

भारतीय राजनीति पर आधारित प्राचीनकाल का राजतन्त्र इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त था। उसमें आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त प्राणिमात्र को ऐसा समीचीन राजमार्ग प्राप्त था जिससे वे प्रतिक्षण बिना किसी रोक-टोक के अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होते रहते थे। अन्त में अभिलषित ऐहलौकिक, पारलौकिकादि समस्त सुख-समृद्धियों का अनायास अनुभव करते हुए परपुरुषार्थरूप मोक्ष प्राप्त कर लेते थे। आजका 'जनतन्त्र'-शासन पाश्चात्य राजनीति पर आधारित है जिसका मुख्य उद्देश्य पुष्कलमात्रा में रोटी और वस्त्र का प्राप्त करना है। उसकी दृष्टि में परिदृश्यमान जगत् से अतिरिक्त और कोई जगत् नहीं। अपेक्षित सांसारिक वस्तु का प्राप्त हो जाना ही परमसुख है। किन्तु अपने लोगों की दृष्टि में संसार में सुख का लेशमात्र भी नहीं है।

इसीलिए प्राचीन समय के अनुभवी महापुरुष लिख गये हैं—

'चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयम्,
तत्रैकत्र निधेह सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यताम्,
युक्त्या वाऽनुभवेन यत्र परमा-नन्दश्च तत्सेव्यताम् ॥'

रे चित्त ! चञ्चलता छोड़ और तराजू के दोनों पलड़ों की तरह विचार की दो कोटियों को समक्ष रख । उनमें एक कोटि में, जिनमें निरन्त सुख मान रहा है उन समस्त सांसारिक सुखों को रख, और दूसरे में भगवान् श्रीपति को रख । फिर युक्ति और अनुभव से भलीभाँति विचार कर कि इन दोनों में विश्रान्ति अर्थात् शान्ति, परमसुख तथा तुम्हारा हित किसमें है ? जिसमें ये वस्तुएं मिलें उसीका समाश्रयण कर । इसीलिए किसी महात्मा ने संसार को सिर पर उठाता हुआ अत्यन्त भारी बोझा तथा बोझ त्यागने के बाद अत्यन्त सुख का प्राप्त होना बताया है । उनका कहना है—'भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽस्ते विश्रमं गतः । संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥'

वस्तुतः संसार में अभिलषित सम्पूर्ण पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर भी विवेकी को उसमें पूर्ण प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता, सदा कुछ न कुछ खटकता ही रहता है । ऐसा लगता है, मानो मैंने कुछ प्राप्त नहीं किया और उसको पूर्ण सुख एवं आत्यन्तिक विश्राम के लिये सदा लालसा बढ़ती ही जाती है । इससे यह सहज अनुभव किया जा सकता है कि सांसारिक सुख सुख नहीं, अपितु सुख की तरह प्रतीत होते हैं । इसलिये

शास्त्र कहते हैं कि जिसने सांसारिक समस्त वस्तुओं को प्राप्त कर लिया था उनका पूर्णरूप से ज्ञान कर लिया, वस्तुतः उसने न कुछ पाया और न कुछ जाना ही। किन्तु जिसने सर्वत्र समरूप से विद्यमान, शान्त, आनन्दस्वरूप एवं अद्वितीय परमात्मतत्त्व का साक्षात्कारकर उसका पूर्ण ज्ञान कर लिया, अब उसे न कुछ प्राप्त करना या न कुछ जानना ही शेष रह गया--'यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमद्वयम् । न तेन किञ्चित्प्राप्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते ।।'

भगवान् ने भी सांसारिक भोगों को संस्पर्श से उत्पन्न अतएव क्षयशील एवं दुःख का मूल बताते हुए विवेकियों को उसमें प्रवृत्त न होने का आदेश दिया है। उनका कहना है--'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।' विष्णुपुराण में भी लिखा है कि प्राणी सांसारिक प्रिय पदार्थों के साथ जितना ही मन का सम्बन्ध करता है उतना ही उसके कोमल हृदय में शोकरूप कील गड़ते हैं--'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् । तावतोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ।।'

आप लोग कह सकते हो कि 'एकाग्रभक्ति से भगवत्साक्षात्कार और भगवत्साक्षात्कार से सांसारिक सम्पूर्ण अनर्थों का नाश होता है, किन्तु जबतक सांसारिक विषयों से चित्त विक्षिप्त है तबतक इससे अव्यभिचारिणी भक्ति बन कैसे सकती है ?' इसपर भगवान् शंकराचार्य का कहना है--अविद्यमोऽप्यवभाति हि द्वयोर्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।

तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥'
अर्थात् वस्तुतः विलय नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। जो विषय आपको प्रतीत होते हैं वे केवल मन के विलासमात्र हैं, जैसे स्वप्न और मनोरथ। जिस प्रकार स्वप्न में या मनोरथ से कोई राजा बन गया तो वास्तव के प्रत्यक्ष-तया उसे राजसुखादि का अनुभव नहीं होता, इसी प्रकार यह सारा द्वैत प्रपञ्च मनोविलासमात्र है। अतः विवेकी को चाहिये कि वह मनोरथादि की तरह विषयसेवन की स्पृहा से अनेक प्रकार के कर्मों का संकल्प, विकल्प करनेवाले मन का निरोधकर एकाग्रभक्ति से भगवान् का भजन करे। फिर धैर्य और विवेकशालिनी बुद्धि से विषयों में आत्यन्तिकी विरक्ति पैदाकर प्रभु के चरणकमलों में स्वात्मसमर्पण द्वारा प्रभुसाक्षात्कार से करे तो प्राणी सम्पूर्ण सांसारिक अनर्थों का विनाशकर स्वयं मङ्गलमय हो जायगा।

॥ १४ ॥

विरले ही भगवान् को जानते हैं

मानव-जीवन की सफलता ठीक-ठीक भगवान् को पहचान लेने में ही है किन्तु उनका पहचानना अत्यन्त दुष्कर है। स्वयं भगवान् का ही कहना है—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥' हजारों-लाखों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि अर्थात् मेरे ज्ञान के लिए प्रयत्न करता है तथा मेरी प्राप्ति के लिए निरन्तर श्रवण-मननादि में व्यासक्त उन सिद्धों में भी कोई एक ही तत्त्वतः अर्थात् नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव, अद्वितीय, आनन्दरूप पर-तत्त्व मुझे जानता है।

कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि ब्रह्म का अर्थ 'मैं' है, क्योंकि श्रुति भी कहती है--यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' अर्थात् जो सामने प्रत्यक्ष है वही ब्रह्म है। ऐसी स्थिति में सबसे अधिक प्रत्यक्ष मैं का ही होता है, अतः ब्रह्म का अर्थ 'मैं' ही होना चाहिये। उनसे यह पूछा जा सकता है कि 'यदि ब्रह्म का अर्थ 'मैं' ही हो तो फिर सर्वत्र 'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता? ऐसी स्थिति में कहना पड़ेगा कि अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य पुंज से उत्पन्न चित्त के परिपाक से जनित विवेक वैराग्य, शम-दम संन्यास आदि उत्तम साधनों से सम्पन्न तथा परमेश्वर के अनुग्रह के पात्र मनुष्यों को ही

निरन्तर श्रवण, मनन आदि से 'ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। मलिन-चित्तवाले, ईश्वरीय कृपा से रहित तथा कामाग्नि से दग्ध पुरुषों को वैसा ज्ञान नहीं होता। जैसे सर्वत्र प्रसृत भी सूर्य-प्रकाश अन्धों को प्राप्त नहीं होता वैसे ही सर्वत्र समरूप में सदा विद्यमान रहने पर भी मेरा ज्ञान होना अत्यन्त दुष्कर है। इन्हीं सब बातों की ओर साधक का ध्यान आकृष्ट कराने के लिए भगवान् ने उपर्युक्त श्लोक कहा।

इस श्लोक में जितने पद हैं वे सब विलक्षण अर्थ रखते हैं। 'मनुष्याणाम्' से उनका तात्पर्य है कि मनुष्यों को ही बन्ध और मोक्ष का ज्ञान होता है, उनसे इतर जो पश्वादि हैं उन्हें बन्ध-मोक्ष का ज्ञान नहीं होता। इसलिए बन्ध-मोक्षप्रतिपादक शास्त्र तथा उसके अर्थज्ञान में अधिकारी मनुष्य ही है। उसमें भी जिसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हुआ है उसे तो अवश्य ही मोक्ष के लिए यत्नशील होना चाहिए। मनुष्यों में भी जिनकी देह पापपूरित है वे मुक्ति के सर्वथा अयोग्य हैं, यह सूचित करने लिए भगवान् ने 'सहस्रेषु' कहा है। हजारों में कोई एक ही मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। यहाँ 'सहस्र' शब्द भी दस हजार, लाख आदि का उपलक्षण है, क्योंकि प्रभु की एकमात्र कृपा से प्राप्त होने वाली मुमुक्षा मानवों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार लाखों में कोई विरला ही मोक्ष की इच्छा से श्रद्धा-भक्ति के द्वारा ईश्वरार्पणबुद्धि से जन्मजन्मान्तरों में समनुष्ठित पुण्य-कर्मों के परिपाक से शुद्धान्तःकरण होता हुआ विवेक, वैराग्य, शम दमादि उत्तमोत्तम साधनों से सम्पन्न होकर ज्ञानसिद्धि के लिए यत्न करता

है। अर्थात् नित्य-निरन्तर श्रवणादि में निष्ठा रखता है। 'सिद्ध' उसे कहते हैं जिसका चित्त दृष्ट एवं अदृष्ट आदि सम्पूर्ण विषयों से विरक्त होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही सदा स्थित रहता है। इन लक्षणों से सम्पन्न एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रवणादि में निरत रहने वाले करोड़ों सिद्धों में गुरु, आत्मा एवं ईश्वर की असीम कृपा का भाजन कोई एक हीं नित्य-निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठा से परिश्रान्त उत्तम ब्रह्मविद् संसार की सभी वस्तु वासुदेव स्वरूप है—'वासुदेवः सर्वम्'—इस प्रकार आनन्दैकरस, चिद्घन और अद्वितीय मुझ परब्रह्म को जानता है।

यहाँ आप लोगों को इस शंका का होना अनिवार्य मालूम पड़ता है कि 'विष्णु, ईश्वर, राम और कृष्ण को देवता, मनुष्य सभी जानते हैं। फिर भगवान् ने यह कैसे कहा कि मुझे कोई विरला ही जानता है?' इसीलिए, भगवान् ने 'तत्त्वतः' पद दिया। अर्थात् 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये' इति श्रुति से प्रतिपादित सम्पूर्ण दृश्य से रहित, माया एवं माया के समस्त कार्यों के लेश से सम्बन्धशून्य, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, आनन्दैकमूर्ति अद्वितीय जो मेरा तात्त्विक स्वरूप है उस मुझको तो एक उत्तम ब्रह्मवित् ही अपने आत्म-स्वरूप से जानता हैं। अन्य जो देवता, मनुष्य राम कृष्णादि रूप में मुझे जानते हैं वे अपने से भिन्न एवं परिच्छिन्न रूप में मुझे जानते हैं। अतः उन्हें मेरे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है। यहां एक बात और ध्यान देने की है, इस कथन से भगवान् सूचित करते है कि ब्राह्मण आदि सब वर्णों की मुमुक्षुता, चित्तशुद्धि, ज्ञानोद्देश्येन होनेवाली श्रवण में नित्य

प्रवृत्ति, उससे उत्पन्न होनेवाली ज्ञान की सिद्धि तथा उन्हींके द्वारा सम्पन्न होनेवाली मुक्ति—ये सब पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः विवेकी पुरुषों को प्रयत्न करके उक्त साधनसम्पत्ति की प्राप्ति कर मुक्ति-सम्पादन करना चाहिये।

आजकल मनुष्यों के मरणपर्यन्त चलनेवाले कामवाद, काम्भक्ष और कामाचार—अर्थात् जो मन में आया बोलते जाना, जहां कहीं बिना किसी विचार के खा लेना, जिस किसी प्रकार विचर लेना—मानव की मानवता का सर्वनाशवाले, घोर अनर्थों के हेतु हैं। आचार्य, शास्त्र एवं ईश्वर से स्वतन्त्र होना पतन की ओर अग्रसर होना है। अतः आचार्य, शास्त्र एवं सत्पुरुषों की आज्ञा के परतन्त्र होकर सदा संयमित जीवन बिताना चाहिये। और मानव-जीवन का चरम लक्ष्य जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति के लिए सदा सचेष्ट रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर सावधान रहने पर भगवान् का कृपापात्र कोई विरला ही उन्हें तत्त्वतः जानने में समर्थ होता है।

———

॥ १५ ॥

सदा विचार की आवश्यकता

आप जिस देश में उत्पन्न हुए हैं, यह बड़ा पुनीत और सब देशों में विलक्षण देश है। इसका नाम 'भारतवर्ष' है। शास्त्रों में इसकी बड़ी महत्ता गायी गयी है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः। यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥' अर्थात् देवता लोग कहते हैं कि अहो! इन लोगों ने कौन-सा अच्छा कर्म किया अथवा बिना किसी साधन के ही भगवान् श्रीहरि इनपर प्रसन्न हो गये हैं? क्योंकि ऐसा पुण्य होना तो अत्यन्त दुष्कर है जिससे इन लोगों को भगवान् मुकुन्द की सेवा के लिए उपयुक्त भारतवर्ष में मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ। हम लोगों में सदा इनकी समता पाने अर्थात् भारतवर्ष में जन्म लेने की स्पृहा बनी ही रहती है। अतः ऐसे देवताओं से स्पृहणीय भारतवर्ष में मनुष्यजन्म प्राप्त करके हम लोगों को सदा विचार करना चाहिये कि 'भारतवर्ष में मनुष्ययोनि में पैदा होने का अनन्यलभ्य फल क्या है?' बिना इसका विचार किये मनुष्यजन्म सफल नहीं। विचार करने का प्रकार शास्त्र ने बताया है—मनुष्य को सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ? यह संसार कैसे पैदा हुआ? इसका रच-

यिता कौन है? तथा इसका उपादान कारण क्या है?' यही विचार 'विचार' है—कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ता च विद्यते। उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः।'

इस प्रकार उत्तम विचार करने वाले प्राणी के लिए व्यासजी कहते हैं, उसे चाहिये कि सोते, बैठते, मार्ग चलते तथा हर समय सम्पूर्ण कुतर्कों का परित्याग कर संसार के बीजभूत अज्ञान के नाश को देखे जिससे वह अमृत भोगनेवाला नित्यमुक्त हो जाता है—'शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥' अतः संसार का मूलकारण जो अविद्या है, उसकी निवृत्ति का विचार करना सर्वश्रेष्ठ विचार है। एकादशी जैसे पवित्र दिनों का उपयोग पवित्र कार्यों में करना चाहिये। भगवान् की मङ्गलमयी कथा का श्रवण एवं भगवान् के मङ्गलमय भक्तों के साथ सत्सङ्ग परम पवित्र कार्य है।

इस समय भारतवर्ष में विचार की धारा सूखी पड़ी है। उसे प्रवाहित करने के लिए घोर प्रयत्न की आवश्यकता है। आज सब लोग सांसारिक कामनाओं के दास होने में ही जीवन की सफलता का अनुभव करते हैं। किन्तु उन्हें यह भी भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि प्रभु-पाद-पङ्कजों के समाश्रयण के बिना कामनाओं का कभी अन्त होने वाला नहीं। ययाति महाराज ने स्त्री-सम्भोग की कामना की, जिसके लिए उन्होंने पुत्र की आयु ली, फिर भी उनकी वह कामना समाप्त नहीं हुई।

अतः विचार करना चाहिये कि कैसी कामना करने में जीवन की सफलता है ? इसके लिए समबुद्धि होने की आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं - 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' 'सुहृत्' यानी प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके तथा पूर्वस्नेह के बिना ही उपकार करनेवाला. 'मित्र' यानी स्नेहवश उपकार करनेवाला, 'अरि' यानी अपने से किये हुए उपकार की परवाह न कर स्वभाव के क्रूरतावश अपकार करनेवाला 'उदासी' यानी दो जनों के लड़ते रहने पर भी किसी का पक्ष न लेनेवाला, मध्यस्त' यानी विवाद करनेवाले दोनों का हितैषी, 'द्वेष्य' यानी अपने किये हुए अपकार की उपेक्षाकर अपकार करने वाला और 'बन्धु' यानी सम्बन्ध के कारण उपकार करनेवाला, 'साधु' अर्थात् शास्त्रविहित कार्य करनेवाला में तथा पाप अर्थात् शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म करनेवाला इन सबमें एवं अन्य लोगों में भी समबुद्धि अर्थात् सर्वत्र राग-द्वेष-शून्य होनेवाला सबसे उत्कृष्ट है।

ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि होने से विचार करने में सुविधा होती है। शरीर एक विचित्र दुर्ग है। यद्यपि इसमें नव दरवाजे हैं, फिर भी इसमें से निकल भागना सरल काम नहीं। भागने से यहाँ मतलब है-संसार के आवागमन से रहित हो जाना। तभी नाना अनर्थों से युक्त यह संसार छूट सकता है। विवेकी के लिए संसार का छूटना कोई कठिन नहीं है, आज और अभी छूट सकता है। किन्तु इसके लिए सद्विचार की आवश्यकता है। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' आदि वेदान्त-महावाक्यों का ठीक-ठीक विचार कर लेने पर, आप

ब्रह्म हो जायँगे और सारा अनर्थ समाप्त हो जायगा। अन्ततः संसार को भी तो आपने ही बनाया है। संसार ही क्यों? आपने अपने को भी बनाया है। जिनकी आँखें बड़ी हैं उन्होंने पूर्वजन्म में भगवान् के समक्ष या ब्राह्मण के घरों में दीप-दान दिया, उसीसे उनकी आँखें बड़ी हुईं। मनु का कहना है कि 'दीपदश्चक्षुरुत्तमम्।' इसी प्रकार जिसको आँखें बिल्कुल नहीं हैं वे भी स्वयं ही अन्धत्व प्राप्त किये है, कारण गौतमधर्म-सूत्रकार का कहना है कि 'मातृघ्नोऽन्धः' माता की हत्या करने वाले अन्धे होते हैं। इसी प्रकार आपने अपने प्रत्येक अङ्ग को भी अपने ही सुकृत दुष्कृत कर्मों द्वारा शोभन-अशोभन प्राप्त किया है। इसीलिए सारा संसार आपका ही बनाया है। अतः आप जब चाहें इसे बिगाड़ भी सकते हैं।

आप कहेंगे कि 'मैं तो चाहता हूँ, किन्तु यह छूटता नहीं।' सो ऐसे नहीं छूटेगा। इसके लिए आपको सद्गुरु एवं सच्छास्त्रों की शरण जाना होगा और उनके आदेश के अनुसार चलना पड़ेगा। साथ ही प्रयत्न-पूर्वक सांसारिक वासनाओं का परित्यागकर परमात्मविषयक पवित्र भावनाएँ बनानी पड़ेगी। यदि आप सांसारिक वस्तुओं की ही कामनाएँ करेंगे तो अवश्य ही अपनी कामना के अनुसार तत्तद्योनि में जायँगे। शास्त्र कहते हैं—'कामान्हि यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र।' किन्तु जो पर्याप्तकाम अर्थात् पूर्णकाम है तथा आत्मा का साक्षात्कार कर लिये हैं उनके समस्त सङ्कल्प यहीं समाप्त हो जाते हैं—'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।' अतः कामनाशून्य

होकर परमात्मा के चिन्तन में लगकर भक्त तुलसीदास के शब्दों में यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि 'अब लौं नसानी, अब ना नसैहों।'

साथ ही सदा ब्रह्मवृत्ति भी करनी चाहिये, क्योंकि शास्त्र कहते हैं—'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता। ब्रह्म-वृत्त्या हि ब्रह्मत्वं तस्माद् ब्रह्मत्वमभ्यसेत् ॥' अर्थात् भाववृत्ति से भावत्व, शून्यवृत्ति से शून्यता तथा ब्रह्मवृत्ति करने से ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है, इसलिए ब्रह्मवृत्ति का ही अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् चित्तवृत्ति को सदा ब्रह्माकाराकारित करना चाहिए। जो इस ब्रह्मवृत्ति का त्यागकर सांसारिक विषय विषयक चित्तवृत्ति को बनाते हैं उनका जीवन व्यर्थ है, वे लोग पशुओं के समान है। 'ये हि वृत्तिं जहत्येनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्। वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समानगाः ॥' अतः परमपावनी ब्रह्मवृत्ति ही सब वृत्तियों में श्रेष्ठ है। विचारशील भोजन-वस्त्रविषयक समस्त चिन्ताओं का परित्यागकर सदा ब्रह्मवृत्ति ही करे तथा भगवान् से भी यही प्रार्थना करे कि 'हे दयाधाम! यदि आप मुझे कुछ प्रदान करना चाहते हैं तो कृपाकर यही दीजिये कि मैं आपका खण्डन न करूँ और आप मेरा खण्डन न करें—'माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।' फिर तो मङ्गलमय प्रभु की परम कृपा से ब्रह्म-वृत्ति होने लगेगी।

जब ब्रह्मवृत्ति होने लगी तो उसके समक्ष समस्त लोकवासी नतमस्तक हो जायेंगे। शास्त्र कहते है—'ये वै वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये। ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥'

अर्थात् जो ब्रह्मवृत्ति करना जानते हैं तथा जानकर उसे प्रतिदिन बढ़ाते हैं वे सत्पुरुष हैं, धन्य हैं तथा तीन लोकों में वन्दनीय हैं। उन धन्य-धन्य व्यक्तियों के लिए मनुष्यों की कौन कहे, देवता लोग भी अभीष्ट वस्तु उपहाररूप भेंट करते हैं —'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।'

इस प्रकार विचार करने पर यह दृढ़ होता है कि मनुष्य-जीवन का साफल्य ब्रह्मसाक्षात्कार में ही है। अतः उसीके लिए प्रयत्न करना चाहिये। मैं बार बार कहता हूँ कि अपने भरण-पोषण की चिन्ता भी प्रभु पर ही छोड़ देनी चाहिये। किसी भक्त का भगवान् से कहना है कि 'भगवान्! आपका नाम विश्वम्भर है, मैं आपके विश्व के भीतर ही रहता हूं, अतः आप मेरा भी भरण पोषण करें। यदि आप मेरे भरण-पोषण में किसी कारण असमर्थता प्रकट करते हों तो मुझे अपने विश्व से बाहर कर दीजिये। यदि दोनों में असमर्थ हों तो अपना विश्वम्भर नाम ही छोड़ दीजिये।' इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रभु विश्व के समस्त प्राणियों का भरण पोषण करते हैं, फिर आपका ही भरण-पोषण क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। आपको तो केवल विचार के द्वारा सांसारिक समस्त वस्तुओं को नश्वर समझकर भगवान् के भजन में लग जाना चाहिये।

॥ १६ ॥

किसी भी उद्देश्य से भजन कल्याणकर

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति सुख की ओर होती है और येन केन प्रकारेण वह सर्वदा उसीके लिये प्रयत्नशील रहता है। किन्तु हिरण्यगर्भ-लोक पर्यन्त होनेवाले सभी सुख क्षयी तथा दुखःसंपृक्त हैं। निरतिशय सुखस्वरूप केवल परब्रह्म परमात्मा है। उससे अतिरिक्त जितनी वस्तुएँ हैं, सभी मायिक और दुःखरूप है। इसीलिए शास्त्रों ने आनन्दस्वरूप परब्रह्म को ही कहा है—'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और आनन्दस्वरूप है। इसलिए सुख चाहनेवाले को, चाहे वे ऐहलौकिक सुख चाहें या परलौकिक, भगवान् का भजन अवश्य करना चाहिये। जो लोग किसी भी कामना से भगवान का भजन करते है वे सब पुण्यात्मा हैं।

भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है—'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।' हे अर्जुन, जो सुकृति अर्थात् जन्मजन्मान्तर से पुण्यसंचय करनेवाले अतएव सफल है जन्म जिनका, वे ही मेरा भजन करते हैं। वे चार हैं, उनमें तीन तो सकाम हैं तथा चौथा निष्काम। 'आर्त' वे है जो शत्रु एवं व्याधि आदि द्वारा आपद्ग्रस्त होकर उसकी निवृत्ति की इच्छा से हमारा भजन करते है। जैसे अपनी पूजा के लिए होनेवाले यज्ञ का भङ्ग होने के कारण

कुपित होकर इन्द्र के प्रलयकारी वर्षा करते समय व्रजवासी लोग, जरासंघ के कारागार में बन्द होकर नानाविध यातना भोगनेवाले राजा लोग, द्यूत-सभा में वस्त्रापकर्षण से वेइज्जत हो रही द्रौपदी तथा ग्राह-ग्रस्त गजेन्द्र इन लोगों ने आर्त होकर हमारा भजन किया। 'जिज्ञासु' कहते हैं आत्म-ज्ञानार्थी अर्थात् मुमुक्षु को। जैसे मुचुकुन्द, मैथिल जनक, श्रुतदेव तथा उद्धव। इन लोगों ने जिज्ञासुभाव से भगवान् का समाश्रयण किया। 'अर्थार्थी' उसे कहते हैं जो इहलोक या परलोक में भोगसामग्री की अपेक्षा करता है। जैसे इहलोक में भोग की सामग्री राज्य आदि चाहनेवाले सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु और परलोक में राज्यादि चाहनेवाले ध्रुव, इन लोगों ने अर्थार्थी होकर भगवान् को अपनाया। ये तीनों ही सुकृति हैं, जिन्होंने भगवद्भजन से अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त की और अन्त में भगवान् की माया को पारकर भगवत्स्वरूप हो गये।

ये तीनों सकाम भक्त हैं। इनमें भेद यह है कि जिज्ञासु ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा साक्षात् माया को पार करता है और आर्त तथा अर्थार्थी पहले जिज्ञासुत्व प्राप्त करते हैं, फिर माया को तरते हैं। इसी बात को सूचित करने के लिए भगवान ने 'जिज्ञासु' पद को आर्त और अर्थार्थी के बीच रखा है। चौथा ज्ञानी है। 'ज्ञानी' कहते हैं जो भगवत्साक्षात्कार हो जाने के कारण भगवान् से नित्ययुक्त रहता है। यह निष्काम भक्त है। इस-प्रकार किसी भी उद्देश्य से जो भगवान् का भजन करता है वह सुकृति है तथा अन्त में भगवान् का कृपापात्र अवश्य होता है। आप लोग वृन्दावन धाम में बैठे हैं। कमसे कम यहाँ रहते हुए खूब भजन करना चाहिये।

यों तो सारा संसार ही धर्मशाला के रूप में अथवा एक चौराहे पर स्थित वृक्ष की छाया के रूप में हैं, जहाँ अपने-अपने उद्देश्य से गमन करनेवाले लोग कुछ समय के लिए इकट्ठे हो गये हैं। समय आने पर सब जहाँ के तहाँ चले जायँगे, साथ रहनेवाले कोई नहीं हैं। यदि कोई साथ रहनेवाला है तो वह केवल धर्म है। उसमें भगवद्भजनरूप धर्म सर्वोत्कृष्ट है। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि कोई भी सांसारिक कार्य करो, किन्तु साथ में मेरा स्मरण अवश्य करो। गीता में भगवान् ने कहा है— 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥' अर्जुन, यतः अन्तकाल में मानव जिस वस्तु का स्मरण करता है, जन्मान्तर में वही हो जाता है, अतः तुम सभी समय मेरा स्मरण करो। यदि कहो कि अभी मेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं, इसलिए मेरा मन बार-बार विषयों में चला जाता है, जिससे मैं सतत आपका स्मरण नहीं कर पाता, तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए स्वधर्मरूप युद्ध भी करो। यहाँपर क्षत्रिय अर्जुन का स्वधर्म युद्ध ही है, इसीसे भगवान् ने 'युद्ध करो' कहा। तात्पर्य यह है कि जिस किसी का भी अन्तःकरण शुद्ध न हो वह अपने अपने वर्ण एवं आश्रमधर्मों का पूर्णरूप से पालन करे, तभी उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा और अन्त में भगवान् का स्मरण होने से वह भगवत्स्वरूप हो जायगा। अन्तःकरण की शुद्धि के पहले स्वधर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

'पद्मपुराण' में एक कथा अयी है! नरोत्तम नामक एक ब्राह्मण बालक था। वह अपने वृद्ध माता-पिता को, जिनकी सेवा उसका उस

समय स्वधर्म था, छोड़कर तप करने चला गया। वह नियमपूर्वक एक वृक्ष के नीचे बैठकर तप करने लगा। कुछ दिनों बाद वृक्ष पर से विष्ठा करनेवाले एक पक्षी को उसने क्रोधभरी दृष्टि से देखा जिससे वह मरकर गिर पड़ा। उसे अभिमान हुआ। कभी वह भिक्षा लेने किसी गृहस्थ के घर गया। वहाँ गृहस्वामिनी अपने पतिदेव की सेवा में लगी थी। सेवा से निवृत्त होकर थोड़ी देर में आयी तो इन्होंने उसे भी पक्षीवाली दृष्टि से देखकर भस्म करना चाहा तो उसने कहा—'महाराज मैं पक्षी नहीं हूँ।' यह सुन तपस्वीजी घबड़ाये और पूछा—'देवि! पक्षी की बात कैसे विदित हुई?' पतिव्रता ने कहा—पतिसेवा से स्त्री को सभी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह भिक्षा लीजिये, मुझे इतना अवकाश नहीं है कि मैं आपसे अधिक बातें करूँ। यदि आपको अधिक जानना है तो एक चाण्डाल हैं। आप उनके पास जायँ।' तपस्वी चाण्डाल के पास गये। उसने बिना कुछ कहे कह दिया कि 'आपको पतिव्रता ने भेजा है, किन्तु मुझे बिल्कुल समय नहीं, आप तुलाधार वैश्य के पास चले जायँ, वहाँ सब आपको ज्ञात हो जायगा।' तपस्वी ने वहाँ जाकर देखा कि तुलाधार अपनी दूकानदारी में लगे हैं। उन्होंने भी बिना कहे सब बातें बताते हुए कहा कि 'आप उद्रोहक के पास चले जायँ।' ब्राह्मणदेवता नरोत्तम ने सभी जगह भगवान् को विराजते देखा। उद्रोहक ने उनसे कहा कि 'ब्रह्मदेव! वृद्ध माता-पिता को छोड़कर तप करना आपका धर्म नहीं था, आपके लिए माता-पिता की सेवा करना ही धर्म था। सो आपने उसे छोड़कर तप प्रारम्भ किया तो आपको सिद्धि कैसे मिलेगी? अब आप जाइये और मनसा, वाचा,

कर्मणा उनकी सेवा कीजिये। फिर आपको बिना तप ही सर्वसिद्धि प्राप्त हो जायगी।'

निष्कर्ष यह है कि स्वधर्मपालन करते हुए ऐहलौकिक उन्नति के लिए भी भगवान् का भजन किया तो भी मानव का कल्याण हो जाता है। अतः आप लोग बड़े जोर से भगवान् का भजन करें, कल्याण होगा।

॥ १७ ॥

वामनद्वादशी का महत्त्व

वामनद्वादशी वह परम पवित्र दिन है, जिस दिन भगवान् विष्णु-वामन रूप धारणकर तीन पग भूमि के लिए राजा बलि के पास याचक बने थे। केवल तीन पग में ही भगवान् ने समस्त लोकों को नाप लिया था। इसी बात को वेद कहता है—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाँसुरे।' जिसके यहाँ भगवान् विष्णु को भी याचक होना पड़ा, उन महाभाग बलि के पूर्वजन्म की गाथा सुनकर आपको बड़ा आश्चर्य होगा। वे इसके पहले जन्म में बड़े भारी जुवारी तथा वेश्यागामी थे। जुआ द्वारा पैसा एकत्रकर उससे नानाविधि पक्वान्न एवं इत्र-फुलेल खरीदकर प्रतिदिन अपनी प्रियतमा वेश्या के पास ले जाते थे। एक दिन इन सब वस्तुओं को लेकर प्रतिदिन की अपेक्षा कुछ विलम्ब हो जाने के कारण बड़ी शीघ्रता से जा रहे थे कि मार्ग में पड़े किसी प्रस्तरखण्ड से ठोकर खाकर गिर पड़े। चोट गहरी लगी। उन्होंने सोचा, कदाचित् अब मैं अपनी प्रियतमा के पास न पहुँच सकूँ और उसके लिए ली गयीं ये सब वस्तुएँ व्यर्थ जायँगी यह सोच उन्होंने उन सब वस्तुओं को शिवार्पण कर दिया। उसके फलस्वरूप उन्हें कुछ समय के लिए इन्द्र का साम्राज्य प्राप्त हुआ। वहाँ

भी उन्होंने इन्द्र की उच्चैःश्रवा, ऐरावत आदि सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं को शिवार्पण किया। उसीके फलस्वरूप वे सम्राट् बलि हुए। और इन्हीं सब पुण्यों के कारण भगवान् को उनके समक्ष याचक होना पड़ा।

राजा बलि बड़े धैर्यशील थे। जिस समय वे भगवान् को तीन पग भूमि देने को प्रस्तुत थे उस समय उनके गुरु शुक्राचार्य ने उन्हें बहुत समझाया कि 'इन्हें साधारण वामन मत समझो, ये महाविष्णु हैं और तुम्हें छलने आये हैं।' किन्तु राजा बलि तनिक भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने बड़े विनम्र शब्दों में गुरुदेव से निवेदन किया—'गुरुदेव! आपने जो कुछ भी कहा वह बिल्कुल सत्य है, किन्तु आपके शब्दों में यदि ये महाविष्णु हैं तो मैं इन्हें मनचाही भूमि प्रदान करूंगा. कारण जिस विष्णु को आप जैसे शास्त्रीय विधान के विज्ञाता नानाविध यज्ञों द्वारा प्रसन्न करते हैं वही वरद विष्णु स्वयं हमारे यहाँ याचक बनकर आये हैं। फिर इन्हें मैं निराश कैसे कर सकता हूं? यदि विष्णु न होकर कोई दूसरे भी हों तब भी इन्हें भूमि अवश्य प्रदान करूंगा—'यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता भवन्त आम्नायविधानकोविदाः। स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वाऽपरो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ॥' वे आगे कहते हैं कि यद्यपि ये निरपराध मुझे अधर्म से बाँधकर छले हैं, फिर भी मैं डरे हुए इस ब्राह्मण शत्रु को नहीं मारूंगा—यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्। तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम् ॥'

यह सुनकर गुरुदेव शुक्राचार्य ने बलि पर रुष्ट होकर उसे शाप दे दिया कि 'तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है तो शीघ्र ही राजलक्ष्मी

से भ्रष्ट हो जायगा।' फिर भी महाभाग बलि अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए और अपनी धर्मपत्नी विन्ध्यावलि के साथ उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों को पखारा, समस्त विश्व को पवित्र करनेवाले उस जल को अपने शिर पर चढ़ाया तथा भगवान् से विनीत शब्दों में कहा कि 'लीजिये, नाप लीजिये।' भगवान् ने दो ही पगों में समस्त विश्व को नाप लिया। तीसरे के लिये बलि से कहा कि 'बले! तुमने हमें तीन पग दिया सो तुम्हारा सम्पूर्ण राज्य दो ही पग हुआ। स्वीकार करके भी तीसरा पग न दे सके, अतः तुम्हें कुछ दिन के लिए नरक भोगना पड़ेगा।' बलि ने कहा—'भगवन्! श्रीचरण भी यह स्वीकार करते हैं कि धन से धनी बड़ा होता है। ऐसी स्थिति में जब इस दास का धन दो पग हुआ तो यह दास भी कमसे कम एक पग तो होगा ही। अतः तीसरे पग के लिए श्रीचरण हमारे शिर पर पैर रखकर नाप लें। आपने मुझे अभी नरक का भय दिखाया है। तो नाथ! पदच्युत होकर नरक जाने, पाशबन्धन, महाविपत्ति, महती दरिद्रता तथा आपके इस विनिग्रह से उतना भय मुझे नहीं है जितना कि मैं असाधुवाद अर्थात् अपकीर्ति से डरता हूँ—

'बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात्।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहादसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा॥'

बलि को इस प्रकार कष्टपूर्वक भगवान् से निवेदन करते हुए देखकर ब्रह्माजी ने भगवान् से कहा कि 'भूतभावन! सरलचित्त प्राणी जिन आपके चरणों में जल तथा दूर्वाङ्कुर समर्पणकर उत्तम से उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है उन्हीं आपके चरणों में सर्वस्व प्रदान करनेवाला यह बलि क्यों

दुःखी हो रहा है—'यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् । अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमना कथमार्तिमृच्छेत् ॥' इसपर ब्रह्मा जी को भगवान् ने उत्तर दिया—'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।' जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ तो धीरे-धीरे उसका धन हर लेता हूँ । अतः बलि का सर्वस्व हरणकर मैंने इसपर दया ही की है । अतः भगवान् के भक्तों को निर्धनता से घबड़ाना नहीं चाहिये ।

भगवान् बड़े कौतुकी भी हैं । एकबार वे विरोचन की स्त्री के सामने ब्राह्मण बनकर पहुँचे । वह बड़ी चतुरा थी । उसने कहा—'भगवन् ! आपने अपनी क्रीड़ा के लिए ही इस त्रिलोकी की रचना की है, वे मूर्ख हैं जो इसमें अपना स्वामित्व मानते हैं—'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः । कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥'

फिर तो छलने गये भगवान् स्वयं उससे छल लिये गये । ऐसे सरल-स्वभाव के प्रभु हैं । वे अपने भक्तों को सदा मङ्गल ही करते हैं । सदा वे अपने भक्तों का ध्यान रखते हैं । बलि को छलने के बाद उन्हें बड़ा खेद हुआ । यद्यपि भगवान् ने देवताओं का हित दृष्टि में रखकर यह सब किया फिर भी परमकृपालु भगवान् ने सोचा कि यह वेचारा सर्वथा निर्दोष था, व्यर्थ ही इसे घोर क्लेश उठाना पड़ा और बिना किसी खेद के अपना सर्वस्व ही नहीं, अपितु अपने तक को मुझे समर्पित कर दिया । अतः अब इसपर इसका प्रत्युपकार करना चाहिये ।

जब आजका भी कोई धनी-मानी किसींका एहसान अपने ऊपर नहीं रखना चाहता, फिर वे त्रिलोकीनाथ ठहरे। वे तो भक्तों के द्वारा प्राप्त वस्तु को कोटिगुणित करके देने पर थोड़ा ही माननेवाले हैं। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है—'ऐसो को उदार जगमाहीं।' फलतः भगवान् ने महाभाग बलि से कहा—'मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, कहो क्या दूँ ?' राजा बलि हँस पड़े और कहने लगे—'नाथ ! अभी तो आप मुझसे तीन पग भूमि माँगने आये और अब दानी बनकर मुझसे माँगने को कहते हो। नाथ ! अब मुझे कुछ नहीं चाहिये।' भगवान् ने फिर बहुत आग्रह किया, किन्तु बलि ने कुछ नहीं मांगा। भगवान् ने फिर स्वयं उन्हें पाताल-लोक का राज्य दिया, जो स्वर्ग से कोटिगुणित सुख समृद्धियुक्त है तथा वहाँके निवासी अनन्त काल तक जीते रहते हैं।

इतना देने पर भी भगवान् को सन्तोष न हुआ और उन्हें यह शंक बनी ही रही कि इसके दान के सामने मैंने इसे कुछ भी नहीं दिया। यदि यह कुछ माँग लेता तो मुझे संतोष हो जाता। इसलिए भगवान् ने फि बड़े प्रेम और आग्रह से कहा—'बले! मुझे पूर्ण विश्वास है कि तु अत्यन्त निस्पृह हो, अतः तुम्हें कुछ नही चाहिये। किन्तु मेरे संतोष लिए कुछ अवश्य माँग लो, विना मुँहमाँगी तुम्हें दिये मुझे सन्तोष न होता।' बलि ने कहा—'दयामय ! आपने तो विना माँगे ही जो मेरे मन रथ में न था उसे प्रदान किया, फिर भी यदि मेरी माँगी देना चाहते हैं तो यही माँगता हूँ कि प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही आपका मंगलमय दर्श हो।' भगवान् बड़े प्रसन्न हुए कि भला इसने माँगा तो। अब वे विच

करने लगे कि यह तो पाताल में बारहदरी में सोयेगा, फिर उठते समय पता नहीं किधर इसका मुख होगा। अतः बारहो द्वारों पर मुझे रहना चाहिये। यह सोच उन्होंने बारह रूप बनाकर सभी दरवाजों पर पहरा देना प्रारम्भ किया। यह है प्रभु का परमदयालु स्वभाव। निजजन की आकांक्षापूर्ति के लिए पहरेदार भी बनने में आनन्द मानते हैं।

इसी प्रकार देवताओं के हित के लिए उन्हें वृन्दा का पातिव्रत्य भङ्ग करना पड़ा! बदले में उसने इनको शाप दिया, भगवान् को उसे सहर्ष स्वीकार करने पर भी सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने वृन्दा महारानी को आशीर्वाद दिया कि आजसे हमारी जैसी आपकी भी पूजा होगी। सो आजतक भगवान् की तरह तुलसी महारानी की पूजा होती है और यह वृन्दावन आज भी उसी वृन्दा देवी के नाम से चला आ रहा हैं। उनके ऐसी दयालु परवशता के कारण ही तीन लोक चौदहों भुवन में उनकी अमल कीर्ति छा रही है! भगवान् के इन सब निर्मल यश का श्रवण करने से प्राणी का अन्तःकरण भगवान् की भावनाओं से भावित हो जाता है। यही जीवन की एकमात्र सार्थकता है।

प्रभु सबके अकारण सुहृद् तथा सबसे बड़े दाता हैं। यदि किसीको किसी से कुछ माँगना ही हो तो उसे भगवान् से ही माँगना चाहिये। शास्त्र कहते हैं—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मरातेर्दातुः परायणम्। तिष्ठमानस्य तद्विदः।' ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और धन देनेवाले का एकमात्र आश्रय है। अर्थात् धन देनेवाले भी वहींसे धन प्राप्त करते हैं। तो हम भी परम्परया क्यों उसके पास जायें? क्यों न साक्षात् उसीसे मांगें?

देनेवाले को भी चाहिए कि हम जो कुछ दे रहे हैं वह भगवान् की कृपा से ही दे रहे हैं। कारण भगवान् हमें यदि नहीं देते तो हम कहाँसे देते ? लोग जानते हैं कि देने से वस्तु घटती है, किन्तु शास्त्र कहते हैं कि देने ही से वस्तु मिलती है—'नादत्तं कस्योपतिष्ठते' बिना दिये किसीको क्या मिलेगा ?

इसी कारण दान की बड़ी महिमा बतायी गयी है। वेद कहते हैं कि दान देनेवाले मनुष्य इसी ब्रह्म के शासन में प्रशंसा प्राप्त करते हैं–'एतस्य वाऽक्षरस्य शासने ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति।' अग्निहोत्र भी दान ही है, उसके लिए शास्त्र का कहना है–'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः अन्तरिक्षमाविशतः। अन्तरिक्षं तर्पयतः दिवमाविशतः दिवं तर्पयतः ते गिरिमात्रं वर्धयतः॥' अग्निहोत्र में सायं-प्रातः दी गयी दोनों आहुतियाँ ऊपर उठती हुई अन्तरिक्ष लोक को जाती है और उसे तृप्त करती है। फिर स्वर्गलोक में जाती हैं और उसे तृप्त करती हुई दाता के लिए पर्वत के समान बढ़कर प्राप्त होता है। इसीलिए हमारे–आपके पूर्वज अग्निहोत्र अवश्य करते थे। आप लोगों को भी यथाधिकार दान करने का प्रयत्न करना चाहिये। यह है वामनद्वादशी की पवित्र तिथि का महत्त्व !

॥ १८ ॥

अध्यवसाय की महत्ता

उपनिषद् में लिखा है—'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य स क्रतुं कुर्वीत ।' यतः पुरुष क्रतुमय है अर्थात् अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक है) वह इस लोक में जैसा अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करता है इस लोक से जाकर वैसे हीं होता है। जैसा कि भगवान् ने गीता में भी कहा है कि मानव जिस-जिस वस्तु को स्मरण करते हुए अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है, मरने पर भी वही वही हो जाता है—'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥' अतः शास्त्रानुसार क्रतु अर्थात् अध्यवसाय करना चाहिये। सिद्धान्त भी है कि जो जैसी अभिलाषावाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है उसीके अनुकूल फल प्राप्त करता है—'स यथाकामो भवति तत्कर्म कुरुते, यथा कर्म करोति तदेव प्रतिपद्यते।' इस प्रकार मनुष्य की सफलता अपने अध्यवसाय पर ही निर्भर है। साथ ही श्रद्धा का भी बड़ा महत्त्व है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है वह वही हो जाता है।

आज संसार के बुद्धिमानों के समक्ष एक प्रश्न है कि मानव की उन्नति कहाँतक हो सकती है? सनातनधर्मियों के अतिरिक्त जितने भी

मतमतान्तर हैं उन सबका उत्तर इस विषय में सब प्रकार से सीमित, संकुचित हैं, क्योंकि वे सब जीवनस्तर को अधिक से अधिक ऊँचा उठाने में ही मनुष्य की उन्नति की पराकाष्ठा मानते हैं। किन्तु सर्वव्यापक सनातनधर्म कहता है कि मानव नर से नारायण बन जाता है। वस्तुतः 'नरयोनि' चौरासी लक्ष योनियों में सर्वश्रेष्ट मानी जाती है। इसका कारण यही है कि इसमें नारायण होने की योग्यता है। इस योग्यता के रहते हुए भी अन्य मतमतान्तरों को यह सामर्थ्य नहीं कि वे इसे 'नारायण' बना सकें। इसका ठीका तो सनातनधर्म ने ही लिया है। सनातन जीवन को सनातन नारायण की प्राप्ति करने की सामर्थ्य सनातन धर्म में होना समुचित ही है। आप लोग भी अपने को सनातनधर्मी ही कहते हैं, फिर अनुत्साहित होकर क्यों बैठे हैं ? उठिये, जागिये और श्रेष्ठ पुरुषों की शरण में जाकर जीव-ब्रह्म के एक होने का ज्ञान प्राप्त कीजिये—'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।'

राक्षस भी होकर विभीषण परम सत्पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की शरण गया। उसे आते देख भगवान् के सभी सलाहकार सुग्रीव आदि ने श्रीरामजी से कहा 'महाराज! यह राक्षस है, साथ ही शत्रु का भाई है। अतः पता नहीं, यह किस भाव से आया हो।' भगवान् ने बड़े विनम्र शब्दों में अपने मन्त्रियों को प्रसन्न रखते हुए कहा—'आप लोगों ने जो कुछ कहा सो सब ठीक तथा नीतिशास्त्र का गूढ़ सार है। किन्तु मेरा तो दृढ़ निश्चय है कि एकबार भी जो मेरी शरण आ गया और 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार याच्ञा करने लगा तो मैं उसे सभी प्रकार से एवं सभी से अभय प्रदान कर

देता हूँ—'सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीत्यभियाचते। अभयं सर्वभूत-भ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥'

इससे आप लोगों को पता लग गया होगा कि भगवान् जीवों पर कितनी दया रखते हैं। फिर भी जीव एकबार भी मन से भगवान् की शरण न जाकर अनन्त आधि-व्याधि, दुःख-दारिद्र्य आदि सन्ताप-परम्पराओं से विताडित होता रहता है। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा।

भक्तवत्सल राम गये थे भार्यापहारी शत्रु रावण को मारकर प्राणप्रिया सीता का उद्धार करने। इतने में एक जीव विभीषण शरण आ गया तो उनकी सीता की सुधि भूल गयी। रावण से निपटा जाय, इसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा। लक्ष्मण से समुद्र का जल मँगाकर विभीषण को राज्याभिषेक करने लगे। यह है भगवान् की जीवों पर दया। साथ ही उनकी यह भी प्रतिज्ञा है कि राम दो बार नहीं कहते—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' अर्थात् एक बार जो मुँह से निकल गया उसे अवश्य पूरा करते हैं। अतः आप विश्वास करो और एकबार शुद्ध मन से भगवान् के पास अवश्य जाओ। देखो कितनी अनन्त शान्ति प्राप्त होती है। जितनी देर आपका चित्त भगवान् में लगा रहेगा उतनी देर सांसारिक बाधाएँ आपकी ओर आँख भी नहीं उठा सकती। मङ्गलमय भगवान् के पादपंकजों में मानस-मलिन्द के पहुँच जाने के बाद सांसारिक दुःख याद करने पर भी स्मृति-पथ में भी नहीं आते।

भगवान् की मङ्गलमयी कथा के श्रवण का एकमात्र फल यही है कि उनके चरणों में परम अनुराग उत्पन्न हो। यदि ऐसा न हुआ तो कहना पड़ेगा कि कथा-श्रवण का कोई फल नहीं हुआ। इन सबमें भावना ही की

प्रधानता है। भावना ऊँची होने पर भगवच्चरणकमलों में अनुराग के लिए अध्यवसाय अवश्य होगा। ऐसे अध्यवसाय के लिए विषयों से विरक्ति भी करनी होगी, क्योंकि विषयों में अनुराग से उसीमें सङ्ग या आसक्ति होती है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।' अतः विषयों से आसक्ति हटाने की आवश्यकता है। जितनी-जितनी आसक्ति कम होगी उतनी-उतनी सांसारिक विपत्तियाँ भी कम होंगी—'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते। निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुखमण्वपि॥' इसलिए सांसारिक विषयों से अनुराग हटाना चाहिये।

साथ ही शरीर में भी अनुराग कम करना चाहिए। शास्त्र कहते हैं कि 'मैं आपाद-मस्तक माता और पिता से ही निर्मित हूँ, यही एक दृढ़ निश्चय सांसारिक दृढ़ बन्धन का कारण हो जाता है। इसलिए देह से भी ममता कम करते हुए परमात्मविषयक दृढ़ अध्यवसाय करना चाहिये। फिर तो जिस विषय की दृढ़ भावना हुई, उसके सफल होने में उसे विलम्ब नहीं लगता। 'भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना। पुमाँस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्॥' दृढ़ निश्चय और तीव्र संवेग से मनुष्य जिस वस्तु की भावना करता है वही हो जाता है, जैसे कीट को भ्रमर अपनी भावना करता हुआ भ्रमर बना लेता है। किन्तु इसके लिए दृढ़ भावना होनी चाहिये और जीवनपर्यन्त होनी चाहिए। 'ब्रह्मसूत्र' कहता है—'आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्।'

साथ-साथ श्रद्धाधन की भी कमी नहीं करनी चाहिए। शास्त्र कहते है—'श्रद्धाधनश्रुतिरस्ति चान्या। श्रद्धस्व सौम्य इति शास्ति

शास्त्रम् । श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ॥' अर्थात् श्रद्धा-धनरूपी श्रुति अन्य ही है। हे सौम्य ! शास्त्र कहता है कि श्रद्धा करो। श्रद्धायुक्त अपने में ही आत्मा का दर्शन करता है। अतः पूर्ण श्रद्धालु होना चाहिए और सन्देह-पिशाच को कभी अवसर नहीं देना चाहिये। 'हम कल्याण-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, हमारा कल्याण सुनिश्चित है' सदा ऐसी ही भावना रखनी चाहिए, क्योंकि जिसको बिल्कुल सन्देह नहीं रहता वहीं यहाँ से जाकर उस ब्रह्म में लीन होता है--'यस्य साक्षादद्धा न विचिकित्सा एतमितः प्रेत्य सम्भविताऽस्मि ।'

इस प्रकार जो श्रद्धा और विश्वास के साथ परमात्मा-प्राप्ति का अध्यवसाय करता है उसको सिद्धि अवश्य मिलती है। मानव का जीवन इसी तरह की भावना बनाने में सफल समझा जाता है। मानव को रोटी-वस्त्र की चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये। उसकी चिन्ता तो परमकारुणिक प्रभु स्वयं करते रहते हैं। हमारे गर्भ से बाहर आने के प्रथम ही प्रभु ने हमारे लिए उपयुक्त आहार का प्रबन्ध कर दिया था, तो फिर अब वे प्रभु कहीं चले थोड़े गये। वे आज भी हैं और वे ही जो कुछ प्रबन्ध करते हैं वहीं होता है। हम-आप क्या कर सकते हैं ? इसीलिए विद्वान् लोग कहते हैं--'नाऽऽहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं तु चिन्तयेत् । आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते ॥' अर्थात् विद्वान आहार की चिन्ता न करें, अपितु एक धर्म ही की चिन्ता करें। आहार तो मनुष्य के जन्म के ही साथ उत्पन्न होता है। अतः मानव को आहारादि पूर्वनिश्चित वस्तुओं का अध्यवसाय न करके अपने परमकल्याण के लिए ही अध्यवसाय करना चाहिये।

॥ १६ ॥

कलि की विशेषता

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि यों तो कलियुग सम्पूर्ण दोषों का निधि है, किन्तु इसमें एक विशेष गुण भी है, और वह यह कि मुक्ति के सम्पूर्ण साधनों से शून्य भी प्राणी केवल केशव के कीर्तनमात्र से सङ्गरहित होकर परमतत्त्व ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है—'कलेर्दोषनिधे राजन् अस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥' केशव-कीर्तन के साथ-साथ सङ्गरहित होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना कीर्तन का सुख नहीं मिलता। शास्त्र कहते हैं—'सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते। तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥' संसार में सङ्गवान् पुरुष ही दुःखादि के द्वारा कष्ट पाते हैं। निस्सङ्ग तो सुखी रहते हैं। अतः सुख चाहनेवालों को सङ्ग का परित्याग करना चाहिये। इसलिए कलियुग में निस्सङ्ग होकर थोड़ा भी केशव कीर्तन महान् फल देनेवाला है।

एकबार कुछ ऋषिलोग श्रीव्यासजी के पास पधारे। व्यासजी उस समय स्नान के लिए प्रस्तुत थे। 'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु ॥' इस श्लोक से जल में गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी

आदि नदियों का आवाहन करते हुए व्यासजी ने कहा--'कलियुग धन्य है, स्त्री धन्य है तथा शूद्र धन्य है।' समागत ऋषियों को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने व्यासजी से पूछा--ऋषिवर ! कलि तो चारों युगों में बड़ा अधम है और स्त्री-शूद्र पापयोनि हैं। फिर आप इन्हें धन्य क्यों कहते हैं ?' व्यासजी ने उत्तर दिया--'सत्ययुग में मन को विषयों से निवृत्तकर निर्विकल्प समाधि द्वारा भगवान् के ध्यान से, त्रेता में अश्वमेध, वाजपेय और ज्योतिष्टोम आदि अत्यन्त क्लेश से सम्पादित होनेवाले यज्ञों से तथा द्वापर में महोपचार, षोडशोपचार आदि द्वारा विविधविध भगवान् की पूजा से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह सब कलियुग में केवल केशव के अत्यन्त सुलभ तथा मङ्गलमय नामस्मरण से ही प्राप्त हो जाती है--'ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥' अतः अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग धन्य है। स्त्री के लिए पतिसेवा से अतिरिक्त अन्य कोई नियम-निष्ठा का विधान शास्त्र ने नहीं किया। केवल मनसा, वाचा, कर्मणा पतिसेवा करने से ही उसे सद्गति प्राप्त हो जाती है। संसार-सागर को पार करने के लिए अत्यन्त सुगम मार्ग होने के कारण स्त्री धन्य है। शूद्र के धन्य होने का कारण है, उसे न कोई पातक लगता है और किसी संस्कार की ही अपेक्षा है--न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।' केवल शूद्र तीनों वर्णों की सेवा से ही परमकल्याण का भागी हो जाता है।

बहुत लोग कलियुग में संसार में आने के कारण पछताते हैं, इसका

यह कारण है कि वे कलि के इस महात्म्य को नहीं जानते। उन्हें उचित है कि बड़ी सावधानी से भजन द्वारा भगवान् में चित्त लगाकर और भगवान् की कृपा प्राप्तकर संसारसागर को पार करने का प्रयत्न करें। भगवान् कहते हैं--'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।' अर्थात् अर्जुन! केवल तुम मुझमें ही चित्त लगाकर मेरी कृपा से सम्पूर्ण दुस्तर अविद्या तथा तत्कार्य आदि से पार हो जाओगे, मुक्ति पा जाओगे। यदि अहंकारवश मेरा कहा न मानोगे तो विनष्ट हो जाओगे। भगवान् की इस आज्ञा के अनुसार और देश-काल की परिस्थिति का भी ध्यान रखकर आपलोगों को आत्म-कल्याण एवं राष्ट्रकल्याण के लिए भजन करते हुए आवश्यक सब कार्य भी करने चाहिये।

इसी प्रकरण में व्यासजी ने समागत मुनिमण्डली को बतलाया कि 'कलियुग में केवल लगातार एक अहोरात्र भगवन्नामकीर्तन से ही सद्गति प्राप्त हो जाती है।' यह सुन सन्तमण्डली बड़े ही आश्चर्य में पड़ गयी। इसी बीच देवर्षि नारद एक हाथ में उपस्थ-इन्द्रिय और दूसरे में जिह्वा पकड़े वहाँ पधारे। नारद के इस विचित्र स्वाँग को देखकर उनका आश्चर्य और बढ़ गया। इतने में नारद ने कहा--'इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां द्वाभ्यामेव हतं जगत्। अहो उपस्थजिह्वाभ्यां ब्रह्मादिमशकावधि।' अर्थात् यह कैसा आश्चर्य है कि ब्रह्मा से लेकर मच्छर तक समस्त जगत् केवल उपस्थ और जिह्वा इन दो इन्द्रियों के वशीभूत होने के कारण अपना सर्वनाश कर रहा है।

इस प्रकार महर्षि नारद ने उस सन्तमण्डली को निश्चय करा दिया कि साधक को प्रथम इन दोनों इन्द्रियों पर विजय प्राप्तकर इन्हें वश में करना चाहिए, फिर भगवन्नामकीर्तन से शीघ्र सफलता मिलती है। आज कहना न होगा कि कीर्तन का बड़ा प्रचार हो रहा है, किन्तु सफलता बहुत कम नजर आती है। कारण शास्त्रप्रतिपादित औषध का प्रयोग तो हो रहा है, पर उन्हीं शास्त्रों द्वारा शीघ्र सफलताप्राप्ति के लिए जो संयम बताया गया है उधर किसीका ध्यान नहीं जाता। अतः भवरोग मिटाने के लिये शास्त्रीय औषधालय के साथ शास्त्रीय संयम का भी समादर करना चाहिये।

शास्त्रों की आज्ञा है कि धार्मिक पुरुषों को उस देश तथा उस मनुष्य का सहवास नहीं करना चाहिए जहाँसे दोषों के आने की सम्भावना हो। इस प्रकार चिरकाल तक कुसङ्गपरिहारपूर्वक एकान्तवासकर दृढ़तापूर्वक साधन करने से सम्पूर्ण दोषों की निवृत्ति होती है। 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।' ईश्वरोपासना या योगादि, लम्बे समय तक निरन्तर तथा सत्कार-श्रद्धादिपूर्वक अनुष्ठित होने पर पुष्ट अर्थात् फलोन्मुख होते हैं। इसी बात को भगवान् भी कहते हैं--'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥' हे पार्थ! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर जीवनपर्यन्त मेरा (परमात्मा का) सेवन (स्मरण) करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिए मैं अत्यन्त सुलभ हूँ।

यदि कोई संसारी पुरुष कहे कि 'मैं कुछ दिन संसार के विषयों को खूब भोग लूँ तो मेरी उनसे स्वतः निवृत्ति हो जायगी। फिर मैं विरक्त होकर

भजन करूँगा' तो उसका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पुत्र की आयु लेकर दिव्य सहस्र वर्ष तक विषयों के भोग करनेवाले ययाति महाराज का कहना है—'दिव्यं वर्षसहस्रं मे विषयाननुपसेवतः। तथाऽप्यनुदिनं तृष्णा विषयेष्वेव जायते॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मादतितृषं त्यजेत्॥' दिव्य हजार वर्ष से मैं विषयों का सेवन कर रहा हूँ, तथापि मेरी वितृष्णा विषयों में ही प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। मेरी समझ में पृथ्वी में जितना धन, धान्य, स्वर्ण, पशु तथा स्त्री आदि उपयोग की वस्तुएँ हैं वे सभी एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है। अतः विषयोपभोग की तृष्णा का बहिष्कार कर देना चाहिये।

जो वस्तुतः रागी पुरुष हैं वे तो इस लोक को ही सर्वस्व मान बैठे हैं। अतः उन्हें परलोक की बात अच्छी ही नहीं जँचती। ऐसे जीव बार-बार यम-राज के ही प्रिय अतिथि होते हैं। शास्त्र कहते हैं—'न सम्परायः प्रति-भाति बालं प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥' यमराज कहते हैं कि धनादि उप-भोग सामग्री के मोह से आक्रान्त, अतएव प्रमादी अर्थात् अविवेकी पुरुष को परलोक की बातें नहीं सुझाती। वह इसी लोक को सब कुछ मान बैठा है। अतः उसकी बुद्धि में परलोक कोई वस्तु ही नहीं। ऐसे पुरुष दण्ड भोगने के लिए बार-बार मेरे पास आते हैं।

संसार मिथ्याज्ञानमूलक है और परलोक सम्यक्-ज्ञानमूलक। जिसका अधिक अभ्यास किया जायगा, वही दृढ़ होगा। 'सम्यग्ज्ञानप्रसूतेश्च विघा-तायैव जायते। मिथ्याज्ञानाभ्यासहेतुः संस्कारो न तु जन्मने॥'

अर्थात् मिथ्याज्ञान के अभ्यास के हेतु बनकर जो संस्कार चलते रहते हैं, वे सम्यग्ज्ञानोत्पत्ति के बाधक होते हैं। अतः साधक को सम्यग्ज्ञान का ही अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

एक ब्राह्मण-बालक का कथन है--'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥' भोगों (विषयों) को हमने नहीं भोगा, बल्कि भोगों से हम ही भोगे गये। अर्थात् भोग ज्यों के त्यों बने हैं; पर हम रोगों अथवा वृद्ध होने कारण उनके भोगने में असमर्थ हो गये। विजय विषयों की ही हुई, हमारी नहीं। यही दशा तपस्या की है तपस्या तप्त नहीं हुई किन्तु हम ही उससे तप्त हो गये। अर्थात् तपस्या सफल नहीं होने पायी कि उसके पहले ही हम दैहिक दुःखादि से दुःखी हो गये। ऐसा ही नित्य होने के कारण काल तो समाप्त नहीं हुआ और हम ही मरने के किनारे आ पहुँचे। इसी प्रकार यह तृष्णा (विषयसेवन की लालसा) तनिक भी कम नहीं हुई और हम ही अत्यन्त बूढ़े हो गये। इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानी मनुष्यों की विषयसेवन की लालसा मरते दम तक नहीं जाती।

अतः सभी विवेकी मनुष्य के लिए उचित है कि भजन के निमित्त अत्यन्त सुलभ सिद्ध होनेवाले कलियुग को प्राप्त कर बड़ी दृढ़ता के साथ भगवान् का भजन करे जिससे जीवन सफल हो जाय।

॥ २० ॥

जाने अनजाने सभी भगवान् की ओर

प्राणिमात्र प्रतिक्षण भगवान् की ही ओर अग्रसर हो रहे हैं, चाहे वे जानकर ऐसा करें या अनजान में। क्योंकि चार वस्तुएं सभी लोग चाहते हैं—(१) हम सदा रहें, (२) सुखी रहें, (३) ज्ञानवान् रहें और (४) शासक रहें। ये चारों वस्तुएं भगवान् में ही पायी जाती हैं। सदा स्थिति अर्थात् नित्यता भगवान् में ही है। भगवान् से अतिरिक्त सभी वस्तुएं अनित्य हैं। सर्वातिशय-सुखित्व भी भगवान् में ही है, क्योंकि उन्हें 'आनन्द-स्वरूप' कहा गया है। उन्हींके आनन्द-विन्दु से जगत् आनन्दवान् है। प्रभु ही ज्ञानस्वरूप हैं। परम शासक भी प्रभु ही हैं। जो इनमें एक भी वस्तु चाहता है, वह जाने-अनजाने भगवान् को ही ओर ही अग्रसर हो रहा है। फिर जिसे चारो अपेक्षित हैं उसके लिए तो कहना ही क्या? इसीलिए भगवान् ने कहा है कि हे पार्थ! सम्पूर्ण मनुष्य मेरे ही इस मार्ग का अनुसरण करते हैं—मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' इस प्रकार भगवान् की ओर बढ़ना ही है तो फिर प्रेम से उनका भजन क्यों न किया जाय? किसी प्रकार और किसी भी उद्देश्य से भगवान् का भजन करनेवाला पुण्यात्मा कहा जाता है। भगवान् ने कहा है—'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासु-

रर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥' हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! निम्नलिखित चार प्रकार के सुकृति पुरुष मेरा भजन करते हैं—आर्त (दुःखी), जिज्ञासु (भगवान् को जानने की इच्छावाला), अर्थार्थी (अर्थ चाहनेवाला) और ज्ञानी।

अपनी पूजा (यज्ञ) के भङ्ग होने के कारण कुपित इन्द्र के प्रलयकारी वर्षा करते समय व्रजवासी लोग, जरासन्ध के जेल में बन्द राजसमूह, द्यूतसभा में वस्त्रापकर्षण होते समय द्रौपदी तथा ग्राहग्रस्त गजेन्द्र इन लोगों ने आर्तभाव से भगवान् का भजन किया था। जनक, मुचुकुन्द, श्रुतदेव और उद्धव ने जिज्ञासु अर्थात् आत्मज्ञानार्थी होकर तथा सुग्रीव, विभीषण, उपमन्यु एवं ध्रुव ने अर्थार्थी होकर भगवान् का भजन किया। इसी प्रकार सनकादि, नारद प्रह्लाद, पृथु शुक्राचार्य आदि लोगों ने ज्ञानी होकर भगवान् का भजन किया। ये सब पुण्यात्मा हैं और सभी भगवान् की माया को पारकर मुक्त हुए। यदि कहा जाता कि 'कंस, शिशुपाल भी भक्ति से न सही, भय और द्वेषवश ही सतत भगवच्चिन्तापरायण रहते थे, तो क्या वे भी भगवान् की ओर अग्रसर हो रहे थे?' तो कहा जायगा कि ऊपर कही गयी चारों बातों को चाहनेवाला या उनमें से किसी एक को भी चाहनेवाला भगवान् को चाहता ही है। अतः वह उनकी ओर अग्रसर हो ही रहा है। ऐसी स्थिति में कंस, शिशुपालादि भी उनकी ओर अग्रसर हो ही रहे थे, किन्तु वे सुकृति नहीं कहे जा सकते। कारण प्रेमवश उनका भजन करनेवाला ही सुकृति है, द्वेष करनेवाला नहीं। अतः आप लोगों को भी जैसी भावना हो, उसके अनुसार

प्रेम-भक्ति से भगवान् की अर्चना करते हुए उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये ।

वस्तुतः जीव भगवान् का अंश है और भगवान् है अँशी । इसीलिए भगवान् कहते हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।' ऐसी स्थिति में अंश चाहे किसी स्थिति में हो, उसे अंशी को प्राप्त किये बिना या अंशी के रूप में परिणत हुए बिना चैन कहाँ ? अमरणधर्म परब्रह्म परमात्मा का पुत्र जोव अपने अज्ञानवश उस परम पिता से द्वेष भले करने लगे, किन्तु उसे उसके अमरत्व से द्वेष कभी हो ही नहीं सकता ।

आजके नास्तिक भी भले ही ईश्वर और धर्म न मानें, किन्तु सर्वदा रहना तो चाहते ही हैं । थोड़ा भी शरीर में अस्वास्थ्य आने पर उसे दूर करने के लिए विदेशों तक की दौड़ लगा डालते हैं । उनसे पूछा जाय कि 'आप जो अमरत्व चाहते हैं. क्या वह किन्हीं दृष्ट पदार्थों में आपने देखा है, अर्थात् कोई प्राणी ऐसा है जहाँका अमरत्व देखकर आप भी अमरत्व चाहते हैं ?' मेरी समझ में तो उनके पास इसका उत्तर ही नहीं है, कारण कोई प्राणी ऐसे नहीं हैं जो अमर हो ।

महाभारत में एक कथा आती है, एकबार अरण्य में रहते हुए युधिष्ठिर से एक यक्ष ने प्रश्न किया कि 'इस मृत्युलोक में आश्चर्य क्या है ?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि रोज-रोज प्राणी मर-मरकर यमराज के घर जा रहे हैं । उनसे जो शेष हैं वे अमर होकर सदा रहना चाहते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा ?—'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् । शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥'

ऐसी स्थिति में जहाँ अमरत्व है—ईश्वर में, उन्हें वे मानते ही नहीं और भौतिक पदार्थों को वे मानते हैं जिनमें अमरत्व है ही नहीं। तब क्या वे अलीक अमरत्व चाहते हैं? तब तो उनकी सबसे बड़ी मूर्खता हुई। पर इसे वे मानने को तैयार नहीं हैं। अतः यह शास्त्रीय सिद्धान्त सबको मानना ही होगा कि चाहे या अनचाहे सभी लोग ईश्वर की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं।

इस तरह जब अन्ततः भगवान् के यहाँ जाना ही है तब इस रूप में क्यों न जायँ कि वहाँ जाकर अपना सम्मान हो। जो मनुष्य घर से विदेश जाकर कुछ कमा-धमाकर पुनः अपने घर आता है तो घर-गाँव-वाले उसे 'कमानेवाला' कहते तथा सब जगह उसका सम्मान होता है। इसके विपरीत उसकी सब जगह निन्दा होती है, उसे भोजन और आवास की भी सुविधा नहीं होती। ठीक इसी प्रकार प्रभु ने आप लोगों को कमाने के लिए यहाँ भेजा है। आपके लिए सर्वोत्तम पक्ष तो यही है कि आप उनकी सर्वोत्तम शास्त्रीय आज्ञा का परिपालन कर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्माकाराकारित चित्त की वृत्ति बनाकर उनकी ओर अग्रसर ही नहीं, अपितु तद्रूप हो जायँ। यदि किसी कारणवश इस उत्तम पक्ष में असमर्थ हों तो शास्त्रीय सकाम कर्मानुष्ठान के द्वारा भगवान् को प्रसन्नकर स्वर्गादिप्राप्ति द्वारा सुखी हो जायँ। यदि दोनों में से किसी पक्ष का आश्रयण न कर आपने सदा मनमानी ही की तो अवश्य ही प्रभु के निग्रह के पात्र होंगे। जाना तो उसके पास पड़ेगा ही।

इसीलिए नीतिकारों का कहना है कि मनुष्यों को अपने को अजर

ओर अमर समझकर विद्या और अर्थ का संग्रह करना चाहिए तथा मानो मृत्यु ने सिर के बाल पकड़ रखे हैं, यह भावना करके धर्म का आचरण करना चाहिये। अर्थात् पता नहीं कब यहां से जाना है, अत; धर्म का आचरण करते रहो, ताकि किसी समय जाना पड़े तो वहां जाकर उनका अनुग्रहपात्र ही बन सको, निग्रह के पात्र नहीं—'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्यना धर्ममाचरेत्॥' धर्म ही एक ऐसा है जो जीव और ईश्वर के बीच सम्बन्ध कराता है। वही मनुष्य को भगवान तक ही नहीं पहुँचाता, अपितु भगवदर्पणबुद्धि से किया गया धर्म अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मोक्ष तक की प्राप्ति करा देता है। अतः अन्ततः आप भगवान् की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं तो स्वधर्मानुष्ठान द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हुए उनके पास जाइये।

:: २१ ::

त्याग की श्रेष्ठता

मोक्षप्राप्ति के सब साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन त्याग है। त्याग से ही तत्त्वतः ब्रह्म का ज्ञान होता है--'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्। त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥' मोक्ष का सबसे उत्तम साधन त्याग है। त्याग करने से ही त्याग करनेवाले को प्रत्यक् अर्थात् अन्तर्वर्ति परपदरूप स्वस्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिए मुमुक्षु को त्यागशील होना चाहिये। किन्तु वह त्याग साधारण कोटि का नहीं, अपितु महान् से महान् त्याग होना चाहिये। इसलिए कहते हैं--'त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥' अर्थात् अधर्म को तो सभी लोग छोड़ना चाहते हैं, यहां धर्म का भी त्याग करना चाहिये, जिसका फल स्वर्ग आदि होता है। इसी प्रकार असत्य को ही नहीं त्यागना चाहिये, अपितु सत्य को भी छोड़ना चाहिये। इस प्रकार धर्म, अधर्म, सत्य, अनृत को छोड़कर भी छुट्टी नहीं अपितु जिसके द्वारा अर्थात् जिस अभिमान से त्याग करते हो उसका भी त्याग करो, तब वास्तविक त्याग होगा। सारांश, अपना कल्याण चाहनेवाले को अहङ्कारका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तविक अनर्थ का कारण अहंकार ही है। अहंकारवश मानव सत्त्वरजतमोगुण-

मयी परमेश्वरी मायाशक्ति द्वारा निष्पन्न होनेवाले समस्त लौकिक-वैदिक कर्मों का स्वयं अपने ही को कर्ता मान बैठता है। भगवान् कहते हैं—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥' इस प्रकार अहंकारवश अपने में कर्तृत्वाभिनिवेश द्वारा किये गये समस्त सुकृतों का फल भोगने के लिए उसे तत्तत् योनियों में जन्म लेकर नानाऽनर्थपरिप्लुत भवाटवी में अनन्त काल तक भटकना पड़ता है। इसलिए अहंकार का त्याग मुमुक्षु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् मनु ने भी कहा है कि जो समस्त इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त करता है और जो विषयों के प्राप्त होने पर उनकी उपेक्षा करता है अथवा अप्राप्तों को इच्छा ही नहीं करता, इन दोनों में जो प्राप्त करनेवाले हैं उनसे प्राप्ति की इच्छा न करनेवालों को ही श्रेष्ठ बताया है—यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥'

इतना ही नहीं, उपनिषद् ने तो यहाँतक कह डाला है कि वस्तुतः जीव और ईश्वर एक ही हैं, दोनों में भेद केवल त्याग और संग्रह का है। ईश्वर ही कर्म के फलों का त्याग न करने के कारण जीव होता और नानाविध यातनामय सांसारिक क्लेशों को भोगता है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥' इस मन्त्र से जीव और ईश्वर सब प्रकार सम होते हुए भी केवल कर्मफल के संग्रह और त्याग के कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, यह बताया गया है। जीव और ईश्वर दोनों 'सुपर्णा' अर्थात् दो पक्षियों

की तरह हैं। जैसे पक्षी वृक्ष पर बैठते, पर उससे पृथक् रहते हैं वैसे ही जीव और ईश्वर दोनों एक शरीर में रहते हुए भी उससे पृथक् हैं। 'सयुजा' दोनों सदा साथ रहते हैं। 'सखाया' दोनों परस्पर सखा है अर्थात् उन दोनों का कभी वियोग नहीं होता। 'समानं वृक्षं' अर्थात् वृक्ष के समान काटने के योग्य शरीर पर रहते हैं। जिस प्रकार पक्षी फल खाने के लिए एक वृक्ष पर रहते हैं। इस प्रकार सब तरह समान होते हुए भी उन दोनों में एक अर्थात् जीव अविवेकवश 'पिप्पलं' कर्म से निष्पन्न सुख दुःखलक्षण स्वादु फल को खाता है और अन्य ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव होने के कारण कर्मफल को नहीं भोगता तथा स्वरूप में तृप्त रहकर साक्षीरूप में प्रकाशित होता रहता है। यहाँ यह दिखाया गया है कि कर्मफलों का त्याग कर दे तो वह भी ईश्वर हो जाय। यह है त्याग का महत्त्व !

लोक में भी त्याग का बड़ा महत्त्व है। जो महात्मा बड़ा त्यागी होता है, भिक्षा की भी किसीसे आशा नहीं रखता उसके पास देखिये, बड़े से बड़े धनी–मानी आगे–पीछे लगे रहते हैं। क्यों महात्मा आशीर्वाद आदि के द्वारा कुछ देंगे ही, लेंगे तो नहीं ही। और जहां उन्हें यह ज्ञान हुआ कि महात्मा को कुछ आवश्यकता है और अब वे कुछ लेंगे, तो वहाँसे खिसकना प्रारम्भ कर देते हैं। इसलिए त्याग की भावना बनानी चाहिये !

अन्ततः यह सुनिश्चित है कि सांसारिक विषयों के संग्रह से कभी तृप्ति होनेवाली नहीं। जितना ही संग्रह किया जायगा, उतनी ही संग्रह की भावना

प्रज्वलित होगी। इसीलिए मनु का कहना है कि काम अर्थात् विषयसंग्रह की भावना अधिकाधिक विषयों के सेवन से समाप्त नहीं होती, अपितु घृतप्रक्षेप से अग्नि की तरह वह अधिकाधिक बढ़ती ही है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'

इसी प्रकार विष्णुपुराण में ययाति का भी कथन है। ययाति वृद्ध हो गये, किन्तु विषयसंग्रह की भावना नहीं गयी। उन्होंने विषयों से विवश हो अपनी वृद्धता अपने पुत्र को देकर उसकी युवावस्था प्राप्त कर ली। उससे लगातार एक सहस्र वर्ष तक उन्होंने विषयसंग्रह (सेवन) किया। फिर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'जो पृथ्वी में अन्न है तथा जो स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, यदि सब एक को भी मिल जायँ तब भी उसे पर्याप्त न पड़ेगी। अतः विषयविषयक इच्छा का त्याग करना ही चाहिये। क्योंकि मैं स्वयं पूरा एक हजार वर्ष तक विषयसंग्रह (सेवन) करता आ रहा हूँ। मेरी विषयविषयक तृष्णा शान्त न होकर प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है—

'यत्पृथिव्यां व्रीहियव हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मादतितृषं त्जेत्।
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तोष्वेव हि जायते ॥'

इसलिए कल्याणकामी को त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

भगवान् के शब्दों में साधक का सबसे बड़ा शत्रु काम है, अतः उसका भी त्याग करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥' मनुष्यों को बलात् अनर्थ में प्रवृत करानेवाला 'काम' है। यदि कहा जाय कि

'क्रोध भी तो मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अनिष्ट कर्मों में प्रवृत्त कराता है, अतः उसे भी क्यों नहीं अनर्थ का हेतु माना जाय ?' तो इसपर कहते हैं कि यह काम ही क्रोध भी है, कारण काम ही यदि किसी प्रकार प्रतिहत हुआ तो क्रोधरूप में परिणत हो जाता हैं। अतः क्रोध भी काम ही है। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। इसीको साधक सबसे बड़ा शत्रु जानें। इसी को मार देने पर साधक सफल हो जाता है।

कहा जाता है कि शत्रु को वश में करने के लिए राजनीतिशास्त्रों में साम, दान, भेद, दण्ड ये चार उपाय बताये गये हैं। उनमें मनु का कहना है कि जहाँतक हो सके, शत्रु को साम, दान और भेद से ही जीतना चाहिये। इन तीनों उपायों के सम्भावित रहते दण्ड (युद्ध) का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये—'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन ॥' अतः साधक के लिए अपने 'काम' रूपी शत्रु को जीतने के लिए प्रथम इन्हीं किन्हीं उपायों का अवलम्बन करना चाहिये, चतुर्थ उपाय युद्ध नहीं करना चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह कामरूपी शत्रु 'महाशन' है अर्थात् बहुत अधिक खानेवाला है। संसार की सारी वस्तुएं इसे समर्पण कर दें, फिर भी इसका पेट भरनेवाला नहीं है। अतः द्वितीय उपाय दान से यह साध्य नहीं है। 'महापाप्मा' कहकर इसको महापापी कहा गया है। अतः इसके समक्ष साम अर्थात् मीठा वचन तथा भेद भी काम नहीं कर सकता। इसलिए युद्ध के द्वारा इसे वश में करना चाहिये। सबसे बड़े शत्रु 'काम' का त्याग कर देने पर साधक का

मार्ग साफ हो जाता है। अतः त्याग से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव है। अतः सभी साधकों को समस्त सांसारिक विषयों का मनसा त्यागकर भगवान् की ओर अग्रसर होना चाहिये। त्यागी को भगवान् की प्राप्ति अवश्य होती है।

॥ २२ ॥

जीव का स्वरूप

वेदान्तियों के मत में जीव अनादि है और अनादि काल से संसार-चक्र में पड़ा भ्रमण कर रहा है। शास्त्र कहते हैं कि इसकी सृष्टि ही अविद्या (अज्ञान) से है। चैतन्य माया में प्रतिबिम्बित हो और उस माया को अपने वश में करके वही सर्वज्ञ 'ईश्वर' पदबोध्य होता है। और जब वही चैतन्य अविद्या में प्रतिबिम्बित हो उसके वशीभूत हो जाता है तो वही 'जीव' संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। अविद्या के नाना होने के कारण जीव भी नाना होते हैं—'मायां बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। अविद्यावशगस्त्वन्यः, तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥' इस प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है। माया-विशेष को ही 'अविद्या' कहते हैं। वह त्रिगुणात्मिका है अर्थात् उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण अवश्य ही रहते हैं। जिस समय उसमें रज और तमोगुण की अत्यन्त स्वल्पता होती है तो उसे 'शुद्धसत्त्वा माया' कहते हैं। उसीका अपर नाम 'विद्या' भी है। उसीके द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। जिसमें सत्त्वगुण की मात्रा कम होकर रज और तम पुष्कल मात्रा में रहते हैं, उसे 'मलिन-सत्त्वा माया' कहते हैं। उसीका अपर नाम 'अविद्या' है। यही जीवमात्र के बन्धन का कारण है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष

और अभिनिवश ये इसके पर्व हैं। 'अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा में नित्य, शुचि सुख एवं आत्मा के भान होने को अविद्या' कहते हैं। 'मैं ही हूँ, मुझसे विशिष्ट और कोई भी नहीं है' इस प्रकार के अभिमान को 'अस्मिता' कहते हैं। विषयों में आशक्ति को 'राग', तथा दुःख में अप्रीति को तथा अनेक बार अनुभव किये गये मरण आदि में होनेवाले त्रास को 'द्वेष' कहते हैं। ये पांचों जीव में ही होते हैं। इसीलिए जीव को नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं।

यह सृष्टि माया की रची हुई है। किन्तु माया से सृष्ट जो पञ्चभूतादि हैं वे जीवों के बन्वन के कारण नहीं होते। जोव के बन्धन के कारण तो जीवकृत सृष्टि ही होती है जैसे सूर्य, जल, तेज में किसोका राग न होकर स्वकृत गृह, दारा और पुत्रादि ही में राग होता है। इसलिए अविद्या ही दुःखरूपा है, जो स्वकल्पित है।

सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं। यही ईश्वरीय शक्ति 'माया' कहलाती है। इस माया की ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। अतः इसे 'सत्' नहीं कहा जा सकता। किन्तु ब्रह्म से पृथक् माया के कार्य पंचभूत दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए इसे विद्वान् लोग 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। यह ब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है और माया मिथ्या, जड़ तथा दुःखस्वरूपा है। जिस प्रकार व्यवहार में मिथ्या को सत्य से विलक्षण मानते हैं, किन्तु वह सत्य के आधार पर ही आवृत होता, सत्य के बल पर ही प्रकाशित होता और सत्य अर्थात्

वास्तविक ज्ञान से बाधित हो जाता है; ठीक इसी प्रकार मिथ्या माया भी पारमार्थिक सत्य ब्रह्मज्ञान से ही उसका बाध भी हो जाता है।

ईश्वर तथा ब्रह्म में अवस्थाभेद मात्र है, वस्तुभेद नहीं। ब्रह्म की कोई अवस्था न होने के कारण जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अपेक्षा उसे 'तुरीय' कहते हैं। इसीलिए उसे शास्त्र में भी 'तुरीयमेव केवलम्' कहा गया है। वही ब्रह्म जब जगत् का प्रकाशकरूप अर्थात् मायापति के रूप में देखा जाता है तब वे ही 'ईश्वर' कहलाते हैं। अविद्या के अधीन रहने के कारण जीवमात्र पर माया की प्रभुता होती है। अविद्या की विचित्रता से जीवों में विचित्रता होती है। मलिनसत्वा माया में जब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो सत्व के मालिन्य से अनन्त प्रतिबिम्ब हो जाते हैं। उन प्रतिबिम्बों का वह मलिन-सत्वा माया ही 'शरीर' हो जाता है। वही शरीर 'कारण-शरीर' कहलाता है और उसका अभिमानी जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है। मलिनसत्वा माया, तूला-विद्या, अज्ञान, अहंकार, कारणशरीर ये सब पर्यायवाची हैं। जिस प्रकार ईश्वर सद्रूप होने से अविनाशी है उसी प्रकार जीव भी अविनाशी तथा सद्रूप है।

इस प्रकार यह सब प्रपंच जीव और माया के सम्बन्ध से ही है। पूर्ण ब्रह्म का अंश जीव है। यद्यपि अखंड ब्रह्म का खण्ड होना सर्वथा असंभव है; तथापि मलिनसत्वा माया द्वारा उसके अंश की कल्पना होती है, जिसे 'कूटस्थ' अथवा 'साक्षी' कहते हैं। साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म ही है। जैसे महा-काश एवं घटाकाश में कल्पित भेद है, वैसे ही ब्रह्म और जीव में भी कल्पित

भेद है। अभिप्राय यह है कि तूलाविद्या का आश्रय साक्षी कूटस्थ है एवं मूलाविद्या का आश्रय साक्षी ब्रह्म। प्रत्येक व्यक्ति में तूलाविद्या भिन्न भिन्न है और समष्टिभूता मूलाविद्या एक ही है। तूलाविद्या के भेद से उसके साक्षी कूटस्थ में भेद माना जाता है। ब्रह्म, ईश्वर और कूटस्थ रूप में एक ही ब्रह्म तीन प्रकार से प्रकाशित होता है।

ईश्वर तो केवल जगत् को उत्पन्न करता है, उसका भोक्ता नहीं है। जगत् का भोक्ता तो जीव ही है। जीव के द्वारा ही जाग्रत से लेकर मोक्ष तक के संसार की कल्पना की गयी है। जीव अल्पज्ञ है तथा ईश्वर सर्वज्ञ तथा मायापति है। इसीलिए जीव परतन्त्र तथा ईश्वर स्वतन्त्र है। भक्त-शिरोमणि तुलसीदास ने इसी बात को बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—'परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥'

सृष्टि-रचयिता विधाता ने सांसारिक जीवों को दो प्रकार से भ्रम में डाल रखा है, कान्ता और कनक से—'द्वेधा वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।' इन्हीं दोनों कामिनी और काञ्चन में फँस जाने के कारण कूटस्थ प्रतिबिम्ब द्वारा वह माया में बँध-सा गया है, जिस प्रकार घटाकाश जलाकाश के द्वारा बँध जाता और जल के दोष से प्रतिबिम्ब दूषित हो जाता है, जल के चंचल होने से एवं उछलने से प्रतिबिम्ब भी चंचल एवं उछलता है; ठीक इसी प्रकार जीव माया के अधीन हुआ नाच रहा है।

यह उदाहरण जड़ का दिया गया है, अतः किसी को जीव में जड़ होने का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह चेतन का अंश होने के कारण चेतन है। यदि कोई कहे कि 'अज्ञान' तो कोई रस्सी है नहीं, जिससे जीव

उसमें बँध जाय !' तो इसका उत्तर है कि जीव का अज्ञान के द्वारा बन्धन भ्रम-मात्र है, किन्तु उसकी निवृत्ति अत्यन्त कठिन है। इसे 'भ्रम' इसलिए कहा जाता है कि 'जड़' और 'चेतन' ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध-स्वभाववाले पदार्थ हैं। एक तमस्वरूप है तो दूसरा प्रकाशस्वरूप, एक विषय तो दूसरा विषयी, एक मिथ्या तो दूसरा सत्य। इन दोनों में एकका दूसरे में अध्यास (आरोप) या एक के धर्म का दूसरे में आरोप होना अत्यन्त कठिन हीं नहीं, अपितु सर्वथा मिथ्या है। किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी इस अज्ञानरूप बन्धन की निवृत्ति नहीं होती। ग्रन्थी बन गयी है अर्थात् परस्पर तादात्म्याध्यास हो गया है जिससे जड़ चेतनवत् प्रतीत होता है और चेतनजडवत्। इस ग्रन्थी का कोई बाँधनेवाला नहीं है, फिर भी अनादि काल से यह पड़ी हुई छूटती नहीं।

कारण शरीर में जो चेतन का अध्यास हुआ, वही प्रतिबिम्ब गांठ के समान है। यद्यपि यह गांठ सर्वथा मिथ्या है केवल भ्रममात्र है -क्योंकि माया के साथ असङ्ग कूटस्थ का सम्बन्ध कैसा ! घटाकाश का जल से सम्बन्ध केवल भ्रम सिद्ध हो है -तथापि इसका छूटना अत्यन्त कठिन है। विना मोक्ष के किसी के हटाये यह अध्यास हटता नहीं लौकिक तथा वैदिक समस्त व्यवहार इसी अध्यास के ऊपर टिका है अनादि काल से यह संसार इसी रूप में चला आ रहा है। इसीको अविद्या-निशा कहते हैं। इसीमें जीव को स्वरूपाज्ञान अर्थात् 'सुषुप्ति' होती है। इस अवस्था के विभु ईश्वर हैं। विभु के अपच्छिन्न एवं असङ्ग होने के कारण इसमें अहङ्कार की ग्रन्थी नहीं पड़ती।

जीव परिच्छिन्न एवं सङ्गो होता है, इसीसे उसे अहङ्कार की ग्रन्थि

होती है। अतः जीव में ही आवरण और विक्षेपरूपी निन्द्रा होती है। इसी निन्द्रा में पड़ा जीव अनेक प्रकार से स्वप्न देखा करता है। भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय सुषुप्ति से ही होता है।

कारणदेहप्राप्त ईश्वरांश के भोग के लिए ईश्वरेच्छा से तमःप्रधान प्रकृति में आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी उत्पन्न हुईं जिसके सत्यांश से क्रमशः पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं सब मिलकर अन्तःकरण बना तथा रज के अंश से क्रमशः पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा सबके अंश से प्राण की सृष्टि हुई। इन पांच तत्त्वों से जो शरीर बना उसका नाम 'लिङ्ग-शरीर' है। यहाँ से संसार अंकुरित हुआ जिससे वह स्थूलशरीर के रूप में पल्लवित और पुष्पित होता है। इस लिङ्गशरीर के अभिमानी देवता का नाम 'तैजस' है तथा इसके विभु को तैजस कहते हैं। इसी तैजस की भोगसिद्धि के लिए भगवान् ने पञ्च-तत्त्वों के पञ्चीकरण द्वारा स्थूल-शरीर तथा ब्रह्माण्ड की रचना की। उन-उन भूतों के स्थूल-शरीर की रचना उन-उन भूतों के अर्धभाग एवं उनसे अतिरिक्त अन्य चारों भूतों के अष्टम भाग के सम्मिश्रण से हुई, इसीको 'पञ्चीकरण' कहते हैं अर्थात् पार्थिव स्थूल-शरीर की रचना में पृथ्वी का आधा भाग तथा शेष जल, वायु तेज तथा आकाश के अष्टम-अष्टम भाग का सम्मिश्रण रहता है। इसी प्रकार जलीय, वायवीय आदि स्थूलशरीरों की रचानाएँ होती है। जब तैसज स्थूलशरीर का अभिमानी होता है, तब उसे 'विश्व' कहते है। इसकी जाग्रत-अवस्था और विराट् विभु है।

प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्था को पहुँचे, पर बिम्ब से उसका सम्बन्ध नहीं छूटता। अवस्थाभेद के सम्बन्ध से बिम्ब में भी भेद प्रतीत होता है।

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं के भेद से जीव क्रम से प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। उसी भाँति तुरीय भी ईश्वर, 'हिरण्यगर्भ' और 'विराट्' कहलाया। यह संसार का रूप अनादि काल से चला आता है। जीव अपने सहजस्वभाव सच्चिदानन्दघनता का परित्यागकर तथा ईश्वरांश के ऐश्वर्य को भी खोकर संसारी हुआ और देहवाला बन गया।

लिङ्गदेह, लिङ्गदेह में स्थित चिच्छाया और अधिष्ठान चैतन्य इन तीनों के समुदाय को ही 'जीव' कहते हैं। पारमार्थिक प्रातिभाषिक और व्यवहारिक इस तरह जीव के तीन भेद होते हैं। कूटस्थ पारमार्थिक, चिज्जडग्रन्थिवाला प्रतिभासिक तथा लिङ्गदेहवाला व्यवहारिक जीव है। इसी तीसरे को संसारी कहते हैं। इसीको लोक परलोक में आना-जाना पड़ता है। स्थूलशरीर छूटता रहता है, पर लिङ्गशरीर मोक्षपर्यन्त बना ही रहता है।

यही है संक्षेपतः जीव का स्वरूप। इसने अनादिकाल से जितने घोर से घोर कष्टों का अनुभव किया तथा करता जा रहा है, उसका वर्णन शेषनाग भी अपनी सहस्र जिह्वाओं से कल्पकल्पान्तरों तक भी करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। लाखों बार इसे पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज आदि योनियों में जन्म, जरा, मरण एवं बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ा है। यदि यही दशा रही तो पता नहीं, कबतक यह इन दुःखों का अनुभव करता रहेगा। अतः आपलोग इसके कष्ट को दूर करना चाहते हैं तो यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र शास्त्रों के परतन्त्र हो प्रभु के मङ्गलमय चरणों में आत्मसमर्पण करें। इसके अतिरिक्त इसके कल्याण का दूसरा मार्ग नहीं है।

॥ २३ ॥

भगवान् की कृपालुता

भगवान् ने गीता में अपने भक्त अर्जुन से कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥' अर्थात् जो आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु अथवा ज्ञानी जिस प्रकार सकाम या निष्कामभावना से मुझ सर्वफलप्रदाता ईश्वर को प्रपन्न होते हैं उन्हें वहीं उनका अपेक्षित फल प्रदानकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूँ, इसमें थोड़ा भी विपर्यय नहीं होता। जो लोग मोक्ष न चाहकर आर्त या अर्थार्थी हैं उनपर उनके आर्तिहरण एवं अर्थदान से अनुग्रह करता हूँ। जो जिज्ञासु हैं उन्हे आत्मज्ञान कराकर तथा जो मुमुक्षु हैं उन्हें मोक्ष प्रदानकर उनपर कृपा करता हूं। मैं यह कभी नहीं करता कि मोक्ष चाहनेवालों को धन प्रदान करूँ तथा धन चाहनेवालों को मोक्ष।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भगवान् अपने भक्तों को मनचाहा फल देते है, तथापि देते हैं अपने भक्तों को ही। जो लोग अन्य देवता की भक्ति करते हैं उन्हें नहीं देते, यह उनमें विषमता तो है ही। इसपर कहते हैं कि 'मम वर्त्मा' इत्यादि। अर्थात् संसार के सभी प्राणी मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। जो इन्द्रादि देवों की भक्ति करते हैं वे भी परम्परया मेरा ही अनुसरण करते और उन्हे भी अभीष्ट फल प्रदानकर मैं ही अनुगृहीत करता हूं।

इस प्रकार अकारण-करुण, करुणावरुणालय भगवान् भक्त की अपेक्षित समस्त वस्तुओं को-याचकों को अयाचक बनाने के लिए उनकी अपेक्षित समस्त वस्तुओं को एकत्रकर बैठे हुए किसी आस्तिक वनिक की भाँति-जुटाकर सदा प्रस्तुत रखते हैं कि पता नहीं, कब कौन भक्त कौन-सी वस्तु माँगेगा और वही उसे प्रदानकर कृतार्थ करूँ। आवश्यकता है हमें उनके पास जाने की। जायँ तो हम भी कृतार्थ हो जायँ। किसी भक्त का तो कहना है कि कहीं जाने की भी आवश्यकता नहीं, केवल हृदय में उनके स्मरणमात्र से अभिवाञ्छित फल की प्राप्ति हो जाती है--'वितरत्यभिवाञ्छितं दृशा परिदृष्टः किल कल्पपादपः। हृदये स्मृत एव धीमते नमतेऽभीष्टफलप्रदो भवान् ॥' अतः मानवों को उचित है कि ऐसे कृपालु भगवान् का स्मरण ही करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति करें।

किन्तु आजकल ऐसी विपरीत भावना हो गयी है कि हमारा भगवान् पर विश्वास ही नहीं रहा। यह निश्चित है कि विना विश्वास के कोई भी अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। उसमें भी जिसका जितना ही विश्वास होगा उसे उतनी ही सिद्धि प्राप्त होगी। शास्त्र कहते हैं- 'यस्य यावाँस्तु विश्वासस्तपःसिद्धिस्तु तादृशी। एतावानेव प्रश्नस्य प्रभावः परिमीयते ॥' इस प्रकार भगवान् की कृपा तो हमपर निःसीम है, केवल विश्वास की आवश्यकता है।

विश्वास के लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है जो प्रभु की निःसीम दयालुता का परिचय कराये। जिस प्रकार प्रभु की निःसीम दयालुता है उसी प्रकार गुरु में भी निःसीम गुण होते हैं। इसीलिए शास्त्र कहते हैं

'अपि महति महार्णवे निमग्नाः सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ।
गुरुचरणसरोजसन्निधानादपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ॥'

अर्थात् महान् जलराशि समुद्र में रहनेवाले भी अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा ही जल ग्रहण कर पाते हैं, ऐसे ही श्रीगुरुचरणकमल की सन्निधि प्राप्त करके भी हम उनके गुणों का लेशमात्र ही प्राप्त कर पाते हैं। ऐसे अगाध गुणवाले कोई गुरु अपने शिष्य से भगवान् की कृपालुता का वर्णन करते हुए कहते हैं—'आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीः द्यौर्भूरसा सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः । ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टा त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥' भगवान् के प्रसन्न होने से शत्रुओं पर विजयादि प्राप्त करने की तो बात ही क्या, दीर्घायु उत्तम शरीर, अतुल लक्ष्मी. भूरादिलोक समस्त योग के गुण, धर्म, अर्थ, काम और ब्रह्मलोकपर्यन्त तक के समस्त ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार परम-कृपालु भगवान् को प्रसन्नकर अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की जा सकती है।

परमकृपालु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने भक्त अर्जुन के समस्त वैरियों को स्वयं मारकर केवल अपने भक्त को यश तथा राज्य प्रदान करते हुए कहते है—'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रुन्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् । मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥' हे सव्यसाची ! उठो शत्रुओं कों जीतकर यशो लाभ तथा समृद्ध साम्राज्य का भोग करो । यदि कहो कि इन भयंकर शत्रुओं का मैं कैसे विनाश कर सकता हूँ तो भगवान् कहते हैं, अर्जुन ! मैंने इन्हें पहले ही मार डाला है, केवल तुम्हें निमित्तमात्र होना है। यहां आप लोगों ने देखा कि अर्जुन ने अपने

शत्रुओं के नाश के लिए भगवान् से मित्रता की थी, परमदयालु भगवान् ने स्वयं उनके शत्रुओं को मार डाला और यश राज्य एवं अपने भक्त को दिया।

इसी प्रकार महाभारत के द्रोणपर्व में कथा आती है कि युद्ध करते हुए अर्जुन ने देखा कि कोई विकराल पुरुष त्रिशूल लिये मेरे शत्रुओं को आगे आगे मारता जाता है, तो केवल उन मरे हुए लोगों पर वाण छोड़ रहा हूँ। यह देख उसे बड़े आश्चर्य हुआ। उसी समय महर्षि व्यास वहां पधारे। अर्जुन ने उनसे बड़े नम्र शब्दों में इसका रहस्य जानने के लिए प्रश्न किया। महर्षि व्यास ने कहा-'ये भगवान् रुद्र हैं, तुमने शत्रु नाश के लिए इनकी आराधना की थी। प्रशन्न होकर इन्होंने तुम्हें गाण्डीव धनुष प्रदान किया। जबतक यह गाण्डीव तुम्हारे हाथ में रहेगा तबतक ये स्वयं तुम्हारे शत्रुओं का नाश करते रहेंगे। यह है भगवान् की कृपालुता!

एकबार भी जो भगवान् की शरण गया; कृतकृत्य हो गया। आवश्यकता है कि उनसे मिलने के लिए तीव्र संवेग की—'तीव्रसंवेगानामासन्नः' यदि किसी कारण अब भी मन भगवान् की ओर न जाय तो उसे उनकी ओर ले जाने का अभ्यास करना चाहिये क्योंकि जन्मजन्मान्तरों के अभ्यास से ही अच्छे कर्मों में प्रवृत्ति होती है। शास्त्र कहते हैं—'प्रतिजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥' जन्म-जन्मान्तरों में जिसने जिस दान, अध्ययन और तप का अभ्यास किया उसी अभ्यास के योग से वह फिर-फिर उसीका अभ्यास करता है। अतः भगवान् की दयालुता पर भरोसा रखकर शुभकर्मों का ज्ञान एवं अभ्यास करना चाहिये।

:: २४ ::

क्लेश की अनादिता

जीव अनादि काल से क्लेश सागर में गोते लगा रहा है। पता नहीं कबतक उसे इसका अनुभव करना पड़ेगा। संसार के बड़े से बड़े वैज्ञानिक भी गर्भ-वास, जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु इन पाँच क्लेशों को दूर करने में अपनी सर्वथा अकिञ्चित्करता स्वीकार कर चुके हैं। सृष्टिरचयिता स्वयं ब्रह्मा भी भगवान् से कहते हैं—'क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमं मुहुरर्द्यमानं शीतोष्ण-वातसलिलैरितरेतराच्च। कामाग्निनाऽच्युत रुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे॥' भगवान् अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए जीवों को भूख, प्यास, वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वायु और जल से बार-बार पीड़ित तथा दुर्भर कामाग्नि से सन्तप्त देखकर मेरा मन बड़ा ही खिन्न होता है। अर्थात् ब्रह्मा के चाहने पर भी जीव के ये क्लेश अनादि होने के कारण दूर नहीं होते। 'ब्रह्मसूत्र' भी इन्हें अनादि मानता है। भामतीकार तो कहते हैं कि इनकी अनादिता चित्त को व्याकुल कर देती है—अनादिता भगवती चित्तमाकुलयति।' इस प्रकार जीव के ये क्लेश अनादि है।

वस्तुतः इन क्लेशों का कारण संसार ही है और वह भी अनादि है। भगवान् ने भी संसार को अश्वत्थवृक्ष का रूपक देते हुए 'अव्यय' कहा

है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दाँसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।' अर्थात् भगवान् ने कहा कि अर्जुन ! जिसका मूल ऊर्ध्व (ब्रह्म) है, जिसकी शाखाएं 'अधः' शब्द से कही जानेवाली 'महद्' आदि वस्तुएं हैं, जिसके पत्ते ऋग् आदि वेद हैं, ऐसे अश्वत्थरूपी (जो कल न रहनेवाला है ऐसे) संसारवृक्ष को श्रुति तथा स्मृति अव्यय अर्थात् आदि और नाशरहित कहती हैं।

श्रुति कहती है कि ऊर्ध्वमूल और अधःशाखावाला यह संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष सनातन या अव्यय है—'ऊर्ध्व मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।' स्मृतियाँ भी कहती है—

'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ।
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवाँस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।।'

अव्यक्त, अव्याकृत मायोपाधि ब्रह्म ही जिसका मूल कारण है, जो उसी मूल-अव्यक्त की कृपा से बढ़ाया गया, जिसकी पञ्चमहाभूत शाखाएं हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय पत्ते हैं, धर्माधर्म ही सुन्दर पुष्प हैं एवं सुख-दुःख ही जिसके फल हैं ऐसा यह सभी प्राणियों का जीविका का कारण ब्रह्मवृक्ष अर्थात् परमात्मा से अधिष्ठित संसारवृक्ष सनातन है। इसे जो पुरुष यथार्थरूप से यानी सुख-दुःखादि से उपप्लुत जानते हैं, वे वेदार्थ को जानते हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति सभी जीवों के लिए क्लेश रूप संसार को अनादि मानते हैं।

किन्तु साधारण दृष्टि से ही विचार करने पर संसार का यह स्वरूप सामने आता है। वस्तुतः इसका यह रूप है नहीं, क्योंकि भगवान् ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥' इस संसारवृक्ष पर स्थित प्राणियों द्वारा जैसा रूप इस (संसारवृक्ष) का वर्णन किया गया, अर्थात् ऊर्ध्व-मूल और अधःशाखादि, उस प्रकार का वह उपलब्ध नहीं होता। कारण वह तो स्वप्न, मृगमरीचिका में प्रतिभासित होनेवाले जल तथा माया-कल्पित गन्धर्व-नगर की तरह अत्यन्त अलीक होने से दिखाई पड़कर नष्ट होने के स्वभाववाला है। अतएव इसके अन्त या अवसान की भी उपलब्धि नहीं होती। अर्थात् इतने समय में नष्ट होगा, इसका ज्ञान भी नहीं होता। यह कबसे है, यह निश्चित न होने के कारण इसके आदि का भी पता नहीं लगता। जिसका आदि और अन्त होता है उसीका मध्य भी होता है। आदि अन्त के अभाव से इसका मध्य भी नहीं है। इस प्रकार का यह संसारवृक्ष दुरुच्छेद्य तथा सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है। अतः असङ्ग-शस्त्र से अर्थात् पुत्र, वित और लोकेषणात्यागात्मक वैराग्यरूपी शस्त्र से इसका च्छेदन कर डालना चाहिये। फिर तो उसके लिए संसार अनित्य, नाशवान् तथा क्षणभङ्गुर हो जाता है। किन्तु जिसने वैराग्य का समाश्रवण नहीं किया, उसके लिए यह बड़ा ही दृढ़मूल है। इसका छूटना बड़ा कठिन हो जाता है।

इसकी पृथ्वी को ही लिया जाय तो मालूम होगा कि वह कितनी पुरानी है। महाभारत में आया है कि किसीने कहा कि 'ऐसी पृथ्वी खोजनी चाहिये जहाँ कोई जला न हो।' इसके अनुसार किसी एक स्थान का निर्णय हुआ कि इस पृथ्वी पर कोई जला नहीं मालूम पड़ता। इसपर वहाँ

की पृथ्वी हँसने लगी और उसने कहा—'अत्र भीमशतं दग्धं द्रोणं चैव सहस्रकम्। लक्षस्यैकं तु शल्यस्य कर्णसंख्या न विद्यते ॥' अर्थात् यहाँ सैकड़ों भीम, हजारों द्रोण, एक लक्ष शल्य जलाये गये और कर्ण की संख्या ही नहीं कि कितने यहां जलाये गये। इस प्रकार एक पृथ्वी की यह दशा है।

सारांश, जबतक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता तबतक भूख प्यास, आधि व्याधि आदि सांसारिक क्लेश मिटने को नहीं। शास्त्र कहते हैं—'स्कन्धात्स्कन्धं च यद्भारं विश्रामं मन्यते यथा। तद्वत्सर्वमिदं लोके दुःखं दुःखेन शाम्यति ॥' जैसे एक कन्धे पर बोझ का भार होने पर उसे दूसरे कन्धे पर रख लेने से विश्राम मालूम पड़ता है, वैसे ही संसार में एक दुःख से दूसरा दुःख हलका मालूम पड़ता है।

वस्तुतः सांसारिकों को दुःखात्यन्ताभाव कभी नहीं होता, क्योंकि यह संसार मायाकल्पित इन्द्रजाल की भांति है। बड़े सुन्दर शब्दों में शास्त्रों में इसका वर्णन किया गया है—'एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासेष्ठितम्, रेतश्चेतसि हस्तमस्तकपदपोद्भूतनानाङ्कुरम्। पर्यायेण सुषुप्तियौवनजरावेषैरनेकैर्वृतम्, पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथाऽऽगच्छति" अर्थात् इससे बढ़कर इन्द्रजाल (जादू) और क्या हो सकता है कि गर्भस्थित रज और वीर्य हाथ, पैर एवं मस्तक से युक्त होकर सचेतन हो जाता है तथा पर्याय से सुषुप्ति, यौवन, जरा आदि वेष धारणकर देखता, खाता, सुनता, सूंघता, जाता और आता है।

क्लेश की अनादिता

इस प्रकार संसार यद्यपि मायाजाल ही है, तथापि जिन लोगों ने भगवान् की शरण नहीं ली तथा असङ्ग-शस्त्र से इसके छेदन का प्रयत्न नहीं किया, उनके लिए यह अत्यन्त दृढ-मूल है। इसे विलीन करने का उपाय महात्मा लोग बताते हैं। उनका कहना है—

'आदौ मध्ये तथाऽन्ते जनिमृतिफलदं कर्ममूलं विशालम्,
ज्ञात्वा संसारवृक्षं भ्रममदमुदिताशोकतानेकपत्रम्।
कामक्रोधादिशाखं सुतपशुवनिताकन्यकापक्षिसङ्घम्,
छित्वाऽसङ्गासिनैनं पटुमतिरभितश्चिन्तयेद्वासुदेवम्॥'

यह संसाररूपी वृक्ष आदि, मध्य और अन्त में जन्म-मरणरूपी फल देनेवाला, कर्मरूप जड़वाला, भ्रम, मद, मोह और शोकरूप पत्तोंवाला तथा काम-क्रोधादिरूप डालियोंवाला है। यह पुत्र-कन्या-स्त्रीरूप पक्षि-गणों से युक्त है। बुद्धिमान् मनुष्यों को उचित है कि वे दुःखजालरूप इस संसारवृक्ष को असङ्गरूप तलवार से काटकर सदा भगवान् वासुदेव का चिन्तन करें। अतः जिन लोगों ने भगवान् की शरण नहीं ली तथा वैराग्य के द्वारा इस संसार-वृक्ष को काटने का प्रयत्य नहीं किया, उनके लिए संसार एवं सांसारिक क्लेश भी अनादि और अनन्त हैं। शास्त्रीय उपाय से उनके मिटाने का प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है।

———

॥ २५ ॥

आधुनिक विज्ञान की विफलता

बीसवीं सदी का मानव आधुनिक विज्ञान द्वारा आविष्कृत रेल, तार, रेडियो, विद्युत् आदि वस्तुओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। उसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि आजके वैज्ञानिक ही ईश्वर हैं, उनसे अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं। कारण जिन वस्तुओं को हम कल्पना की वस्तु समझते थे, उन्हें ये प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं। पहले योगी लोग ही दूर के लोगों से बातें कर सकते थे, पर अब तो आपामर घर बैठे दूर से दूर स्थित लोगों से बातें कर रहे हैं तथा सभी लोग मनोवेग से दौड़ रहे हैं। अतः आजके वैज्ञानिक युग में पुरानी सड़ी-गली धर्म की बातों की क्या आवश्यकता ?

किन्तु जब कोई विचारशील इन सब बातों पर विचार करता है, तो उसे जागतिक सुख समृद्धि में निराशा ही दृष्टिगत होती है। संसार की उलझी सभी समस्याओं पर इनका कोई प्रभाव पड़ता नहीं दीखता। प्राणिमात्र के सुखपूर्वक जीवन-यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन, आवास और आच्छादन आवश्यक है। क्या आधुनिक विज्ञान इसे हल करने में सफल सिद्ध हुआ ? प्राणियों को मृत्यु का भय सदा खटकता रहता है। इसे दूर करने के लिए क्या इसने कोई समाधान निकाला ? पूर्णचन्द्र सबको सदा

प्रिय होता है। उसकी वृद्धि और ह्रास सारे जगत् को खटकता है। क्या आजके वैज्ञानिक उसे पूर्ण ही रखने के लिए कोई आविष्कार करने को प्रस्तुत हैं? यदि नहीं तो आजके वैज्ञानिकों ने क्या किया? सिवा इसके कि जिसे उन्होंने सुख-समृद्धि का कारण समझा, वह सारे संसार का विनाशक सिद्ध हुआ। आज आणविक अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सभी चिन्तित हैं। अन्तत यह आधुनिक विज्ञान से ही पैदा हुआ भूत है, जो समस्त जगत् को असमय में निगल जाने के लिए मुँह बाये हुए है।

वस्तुतः आजके इस वैज्ञानिक युग में संसार की जो दुर्दशा हो रही है वह पहले कभी नहीं हुई। आजका मानव दानवता की ओर इतना बढ़ चुका है कि उसे 'मानव' कहने में भी संकोच होता है। शास्त्रों ने मानवता की कसौटी रखी है—'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥' आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समानरूप से पाये जाते हैं। मनुष्य में एक धर्म ही ऐसा है जो पशुओं में नहीं। यदि मनुष्य भी धर्मरहित हो गये तो वे पशु के समान हो गये अर्थात् देखने में वे अवश्य मानव दीख पड़ें, किन्तु मानवता उनमें नहीं। अब आप आजकी वैज्ञानिक चकाचौंध में पड़े मानव को इस कसौटी पर कसकर देखें तो निराशा ही हाथ लगेगी।

इन धर्महीनों की आपाततः रमणीय प्रतीयमान उन्नति भी कोई खास महत्त्व नहीं रखती। कारण मनु का कहना है कि अधार्मिक प्राणी अधर्म के कारण पहले बढ़ता है, उसके बाद कल्याणकारी वस्तुओं का दर्श

करता है। फिर शत्रुओं पर विजय भी प्राप्त करता है, सब हो जाने के बाद उसका समूल नाश हो जाता है—'अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥'

शास्त्रानुयायी प्राचीन आस्तिक तो इसे 'विज्ञान' ही नहीं मानते। उनके यहाँ तो जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हो गया हो, वे जितेन्द्रिय एवं पत्थर और स्वर्ण में समबुद्धि होकर, 'कूटस्थ' अर्थात् विषय-सन्निधान में भी विकारशून्य हो 'योगारूढ' कहे जाते हैं—'ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः॥' वे किसीके विनाश के लिए अणुबम का निर्माण नहीं करते, जिससे संसार में त्राहि-त्राहि मच जाय। इसलिए आप लोगों को आजके इस आपातरमणीय विज्ञान की चकाचौंध में न पड़कर जीवन के सच्चे उद्देश्य को समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

शास्त्रों में जीवन के सच्चे उद्देश्य की पूर्ति 'धर्म-जिज्ञासा' एवं 'ब्रह्म-जिज्ञासा' में बतलायी है। उसमें सहायक जो विज्ञान या आविष्कार हो, हम उसका आदर कर सकते हैं। जो आस्तिक धार्मिक होंगे उसपर हम आधुनिक विज्ञान का प्रभाव कभी नहीं पड़ सकता।

कहा जाता है कि एक दिन दरबार में आकर बीरबल ने कहा कि 'जहाँपनाह! आपको मालूम होना चाहिये कि नास्तिकता की वायु चलनेवाली है। वह जिसे लगी कि वह नास्तिक हो जायगा।' अकबर ने कहा—'बीरबल अपने बचने के लिए कोई उपाय शीघ्र ढूँढ़ना चाहिये।' 'बीरबल ने कहा—"यदि हमलोग पर्वत की किसी कन्दरा में घुस जायँ तो वहाँ इसका कोई

असर न होगा।' फलतः दोनों एक कन्दरा में घुस गये। कुछ दिनों के बाहर निकले तो देखा कि उस नास्तिकता के प्रबल वेग से समाज का समाज ही पूर्ण नास्तिक हो गया है, किन्तु उन दोनों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। यह देख बादशाह ने कहा--'बीरबल ! अब तो समाज की दृष्टि में हम ही लोग नास्तिक कहे जायेंगे।' थोड़े दिनों के बाद जब समाज के लोगों की पूरी स्थिति का पता लगा तो बीरबल और अकबर को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि बाहर रहने पर भी धर्मात्माओं पर उस घोर नास्तिकता के वातावरण का भी रत्तीभर प्रभाव नहीं पड़ा है।

अतः सच्चे धर्मात्माओं पर आधुनिक विज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। इसी प्रकार जो सच्चे मन से भगवान् का समाश्रयण कर लेंगे, उनपर भी इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

महाभारत में एक कथा आती है ! जब पांडवों और कौरवों को युद्ध होना निश्चित हो गया तब वे दोनों युद्ध की तैयारी में अपने सगे-सम्बन्धियों को निमन्त्रण देने लगे। इसी प्रसङ्ग में अर्जुन तथा दुर्योधन दोनों एक साथ श्रीकृष्णचन्द्र के पास पधारे। यद्यपि दुर्योधन पहले पहुँचा, किन्तु अपनेको राजा समझकर अभिमान से वह श्रीकृष्णचन्द्र के, जो उस समय सो रहे थे, सिरहाने तनकर बैठ गया। अर्जुन पीछे गये और भगवान् के पैरों के पास हाथ जोड़े हुए बैठे। जगकर श्रीकृष्णचन्द्र ने पहले अर्जुन को देखा, पश्चात् दुर्योधन को। उन्होंने दोनों का स्वागत करते हुए आने का कारण पूछा। हँसते हुए दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा--'हम दोनों के बीच युद्ध होनेवाला है, उसमें आप आप सहायता करें। हमारे और अर्जुन के

विषय में आपकी मित्रता और सम्बन्ध बराबर है, फिर भी मैं पहले आपके पास आया हूँ। पूर्वजों के आचार का अनुसरण करनेवाले सज्जन लोग पहले आनेवाले का साथ देते हैं। जनार्दन! संसार में आप इस समय अत्यन्त श्रेष्ठ तथा साधुसम्मत माने जाते हैं। अतः सज्जनों के वृत्त का अनुसरणकर प्रथम समागत मेरी सहायता कीजिये।'

श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा—'आपका आगमन प्रथम हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु मैंने प्रथम देखा अर्जुन को ही। अतः आपके प्रथम आगमन एवं अर्जुन के प्रथम दर्शन के कारण हम दोनों की सहायता करना उचित समझते हैं। प्राचीनों के मुख से हमने सुन रखा है कि जब दो वस्तुएं साथ ही दो व्यक्तियों को देनी हों तो दोनों वस्तुओं को समक्ष रखकर पहले छोटे को ले लेने देना चाहिये, बचे सो बड़ा ले। अतः अर्जुन आपसे छोटा है, वह पहले स्वीकार कर ले, बाद में आप लीजियेगा। एक तरफ मेरे जैसे लड़नेवाले गोपों की दस लाख सेना है जिसे 'नारायणी' कहते हैं; दूसरी तरफ शस्त्ररहित अकेले मैं रहूँगा। इन दोनों में से पहले एक अर्जुन ले ले, तो दूसरी आपकी होगी।'

धर्मप्रिय अर्जुन ने बिना किसी विचार के बड़ी प्रसन्नता से निरस्त्र भगवान् को स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप संग्राम में अर्जुन की विजय हुई और जबतक सृष्टि रहेगी तबतक उसकी कीर्ति-ध्वजा फहराती रहेगी। भौतिकवादी दुर्योधन ने भगवान् से रहित महावीरों की दस लाख सेना प्राप्त करके पराजय का आलिङ्गन किया और सदा के लिए वह दुर्यश का ही भागी हुआ।

अतः आप लोगों को भौतिक विज्ञान की चकाचौंध में न आकर भगवान् का ही समाश्रयण करना चाहिये। आधुनिक विज्ञान की विफलता आज विवेकियों के समक्ष प्रकट हो रही है। वह दिन दूर नहीं, जब आप भी इसकी विफलता का अनुभव करेंगे। भगवान् ज्योतिरीश्वर और पराम्बा पूर्णागिरी आपको एतदर्थं बल दें, यही मेरी शुभ-कामना है।

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज के ग्रन्थ

ग्रन्थ		मूल्य
वेद भाष्य	यन्त्रस्थ	१००-००
वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (दो भाग)	...	७-५०
अहमर्थ और परमार्थसार	...	६-००
श्री भगवत्तत्त्व	...	६-००
वर्णाश्रम-मर्यादा और संकीर्तन-मीमांसा	...	
शांकरभाष्य पर आक्षेप और समाधान	...	
वेद-प्रामाण्य-मीमांसा	...	
तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भनिर्णयश्च	...	
संघर्ष और शान्ति	...	
मार्क्सवाद और रामराज्य (गीता प्रेस)	...	
राहुलजी की भ्रान्ति	...	
जाति, राष्ट्र और संस्कृति	...	
ये राजनीतिक दल	...	
रामराज्य-परिषद् और अन्य दल	...	०-५०
रामराज्य परिषद् और स्वतन्त्र पार्टी		०-५०
आधुनिक राजनीति और रामराज्य परिषद्	...	०-५३
व्यक्तिगत या सामूहिक !	...	०-२०
राजनीति में भी ईमानदारी	...	५.००
भक्तिसुधा प्रथम खण्ड अप्राप्त	...	८-००
,, द्वितीय खण्ड	...	७-००
,, तृतीय खण्ड	...	७-००
राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म	...	६-००
भक्तिरसार्णवः	...	५-०
वेदस्वरूप विमर्शः	...	७-०
चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्शः	...	८-००
श्री विद्यारत्नाकरः	...	१२ ००
रामायण मीमांसा	यन्त्रस्थ	३०-००
विचार पीयूष	यन्त्रस्थ	२५-००

श्री सन्तशरण वेदान्ती धर्मसंघ, वाराणसी